संस्थापक
शिव वर्मा
संपादकीय परामर्श
असग़र वजाहत
संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान
संपादन सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार
हरियश राय
बली सिंह
कार्यालय सहयोग
मुशर्रफ़ अली
इस अंक की सहयोग राशि
साठ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)
संपादकीय कार्यालय
ख़सरा नं0 258 , लेन नं0 5, चंपा गली, वेस्ट एंड रोड,
सैदुल्ला जाब, (साकेत मैट्रो के पास)
नयी दिल्ली-110050
Email : jlsind@gmail.com
Website : www.jlsindia.online
Mobile : 9818859545, 9818577833
प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया
ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक
पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं
जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

वर्ष 35 : जनवरी-मार्च 2021

अनुक्रम

संपादकीय / 3

संघर्ष की विरासत : पेरिस कम्यून : 150 वर्ष

पेरिस कम्यून : सर्वहारा क्रांति की विरासत : चंचल चौहान / 5

वैचारिक विमर्श

हिन्दुत्व बनाम हिन्दू धर्म : आदित्य निगम / 11
मुक्ति का संश्लिष्ट विमर्श : दलित-वाम साझेदारी :
बजरंग बिहारी तिवारी/ 19

किसान आंदोलन : समसामयिक परिदृश्य

समय इस तरह का आ गया है : सुरजीत पातर / 25
किसान आंदोलन : भाजपा का दुष्प्रचार : पी साईनाथ / 30
दो नज़्में : गौहर रज़ा / 34

किसान आंदोलन : ऐतिहासिक परिदृश्य

मुग़लकालीन किसान आंदोलन : सूरजभान भारद्वाज / 38
औपनिवेशिक भारत में किसान आंदोलन: एक अवलोकन :
राजेश कुमार / 44
पंजाबी कहानी : शुरू से... : कुलवंत सिंह विर्क / 51

स्मृति शेष : जो साथ रहेंगे हरदम

बंसी कौल का रंग क्षेत्र और रंग रसायन : रामप्रकाश त्रिपाठी / 55
सागर सरहदी का जाना : शम्सुल इस्लाम / 61
सागर सरहदी की याद को नमन : शैलेश सिंह / 65

विशेष स्मरण

डॉ. महादेव साहा : चलते-फिरते विश्वकोश : श्रीनारायण पांडेय / 69

कविता

प्रेम रंजन अनिमेष, मनजीत मानवी, शैलेंद्र अस्थाना, अशोक सिंह, नरेश अग्रवाल, महेश केशरी / 75

उर्दू कहानी

जन्नत नसीबी : नूर ज़हीर / 95

पर्यावरण

दरकते पहाड़ों की अकथनीय व्यथा : विजय विशाल / 100

रिपोर्ट

किसान आंदोलन के साथ लेखकों, कलाकारों और सामाजिक-सांस्कृतिक संगठनों की एकजुटता :
प्रस्तुति : बजरंग बिहारी तिवारी/ 103

इस बीच जाने माने नाट्यकर्मी बंसी कौल, रंगकर्मी और फ़िल्मकार, लेखक सागर सरहदी, गीतकार ओम प्रभाकर का असामयिक निधन हो गया। इन रचनाकारों, कलाकारों के अवदान को याद करते हुए *नया पथ* परिवार की ओर से हम श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

संपादकीय

देश के किसानों के शांतिपूर्ण आंदोलन को चार महीने से ऊपर हो गये हैं। यह आंदोलन दुनिया के इतिहास में एक अदभुत और बेमिसाल घटना के रूप में दर्ज होगा। हिटलर-मुसोलिनी की विचारधारा से लैस आर एस एस और उसी की राजनीतिक संरचना यानी बीजेपी के नेतृत्व में सत्ता पर क़ाबिज़ मोदी सरकार इतनी अमानवीय, बर्बर और संवेदनशून्य हो सकती है, यह देश के अवाम ने कभी सोचा भी नहीं था। देश के अवाम ने यह भी नहीं सोचा था कि हर रोज़ एक नया जुमला परोसने वाली मोदी सरकार सारी संवैधानिक परंपराओं, संविधान प्रदत्त जनवादी अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं को तरह तरह से नष्टभ्रष्ट कर डालेगी। संविधान क्षतविक्षत है, भारत माता के शरीर पर सुशोभित 'नवरत्न' और जनता के ख़ून पसीने से बने पब्लिक सेक्टर, चहेते कारपोरेट मालिकों को जल्दी जल्दी कौड़ियों के भाव बेचे जा रहे हैं जिसकी वजह से आज कुछ तो उनमें से दुनिया के अमीरों की सूची में आनन फ़ानन में शीर्ष स्थान हासिल कर चुके हैं। ये चहेते ही बीजेपी को 'चुनावी बांड' की शक्ल में करोड़ों का इनाम दे कर दुनिया की सबसे अमीर पार्टी बना रहे हैं, उन्हीं को किसानों की गाढ़ी कमाई लूटने की छूट देने के लिए सारी तिकड़में अपनाकर, महाआपदा के बीच ही फटाफट संसद में बिना बहस,बिना मतसंग्रह किये काले कृषि क़ानून पारित कर लिये। भारत के जागरूक किसान संगठनों ने केंद्र सरकार के इन नापाक इरादों को एकदम पहचान लिया और इन क़ानूनों को वापस लेने तथा एम एस पी (न्यूनतम समर्थन मूल्य) को क़ानूनी जामा पहनाने आदि मांगों को ले कर पूरी दृढ़ता के साथ आंदोलन पर उतरे। हर तरह के दमन, अत्याचार और अमानवीय सलूक को झेलते हुए लाखों किसान दिल्ली की सीमाओं पर चारों ओर इस ऐतिहासिक आंदोलन को तब तक पूरी दृढ़ता से चलाने का संकल्प ले चुके हैं जब तक केंद्र की संवेदनहीन सरकार उनकी मांगों को मानने के लिए विवश न हो जाये। 'क़ानून वापसी नहीं, तो घर वापसी नहीं।'

मोदी सरकार छलबल से 2019 में बहुमत से दुबारा सत्ता में आयी तभी से उसने सारे जनविरोधी और संविधान विरोधी क़दम उठाने में बेहद तेज़ी दिखायी। उसने सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करने के इरादे से मुस्लिम अल्पसंख्यकों को रौंद डालने, उन्हें बदनाम करने और उनका बेवजह दमन उत्पीड़न करने के लगातार क़दम उठाये। 'तीन तलाक़' के ख़िलाफ़ क़ानून, नागरिकता क़ानून संशोधन, अनुच्छेद 370 को ग़ैरलोकतांत्रिक तरीक़े से निरस्त करके जम्मू-कश्मीर को तबाह कर देने वाला संशोधन आदि को इसी प्रक्रिया के हिस्से के रूप में देखना होगा। चूंकि 'हिंदू राष्ट्र' बनाने की जो प्रतिज्ञा हर रोज़ आर एस एस की शाखाओं में दुहरायी जाती है, उसे सांप्रदायिक और मनुवादी सोच को बढ़ावा दिये बग़ैर अस्तित्व में लाया ही नहीं जा सकता। इसीलिए अल्पसंख्याकों के अलावा, दलितों और महिलाओं पर भी लगातार अत्याचार किये जा रहे हैं, उनके आंदोलनों को कुचलने और उनके स्वतंत्र वजूद को मिटा देने की, उन्हें लांछित व बदनाम करने की कोशिशें लगातार देखी जा सकती हैं। दलितों के लिए संविधानप्रदत्त आरक्षण की व्यवस्था कई तरह से ख़त्म की जा रही है, भाजपा द्वारा निजीकरण से ले कर सुप्रीम कोर्ट तक से इस तरह के फ़ैसले करवाने के प्रयास इसी की एक कड़ी हैं।

यह सब जानते हैं कि फ़ासीवादी विचारधारा जनतांत्रिक असहमति और आलोचना क़तई बरदाश्त नहीं करती। यही आज देश में हो रहा है। बिहार विधानसभा में पिछले दिनों इन्हीं तत्वों द्वारा जो अशोभनीय गुंडागर्दी करके असहमति के स्वर को दबाने की कोशिश हुई, वह हर तरह निंदनीय है। इसी तरह अभिव्यक्ति की आज़ादी में यक़ीन रखने वाले कोई भी बुद्धिजीवी, पत्रकार, लेखक या प्रोफ़ेसर कहीं मोदी सरकार के जनविरोधी कारनामों या उनके द्वारा हर रोज़ उगले जा रहे झूठ को उजागर कर दें तो उन्हें फ़ौरन दंड दिलवाने जैसे उन्हें नौकरी से निकलवाने,

या उन पर देशद्रोह का आरोप लगा कर जेल में सड़ा देने की साज़िश रचने में फ़ासीवादी तत्व देर नहीं लगाते। इस तरह एक भय का वातावरण बनाया जा रहा है। पूरी कोशिश चल रही है कि उन तमाम राजनीतिक दलों के हाथों से प्रशासन किसी भी तरह छीन लिया जाये जहां असमहमति के स्वर उठते हैं या जिनका काम भाजपा शासित केंद्र या राज्य सरकारों के कामों से कहीं बेहतर है जिनसे आमजन वहां भाजपा के पक्ष में नहीं हो पा रहा। मसलन, दिल्ली विधानसभा के लिए संविधान में दी गयी व्यवस्थाओं और सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिये गये दिशानिर्देशों की अवहेलना करते हुए हाल ही में एक क़ानून पारित करवा लिया जिसमें चुनी हुई सरकार की जगह केंद्र के पिट्ठू उपराज्यपाल को ही 'सरकार' बना देने की जनतंत्रविरोधी साज़िश रच दी।

विपक्षी दलों के नेतृत्व में चल रही राज्य सरकारों को हर तरह से ध्वस्त करने की साज़िश रचने में केंद्र की भाजपा सरकार लगी रहती है। जहां संभव होता है, विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त करके भाजपा अपनी सरकार बना लेती है, कहीं केंद्र की मशीनरी जैसे सीबीआइ, ईडी आदि के माध्यम से उन राज्यों के नेतृत्व को किसी आपराधिक केस में फंसा देने की घिनौनी चाल चलती है। आम आदमी पार्टी के अनेक विधायकों को और यहां तक कि केरल के मुख्यमंत्री तक को इसी तरह से लांछित करने की तिकड़म में केंद्र सरकार लिप्त रहती है। देश की अर्थव्यवस्था कोरोना महामारी से पहले ही चौपट कर रखी थी, महाआपदा ने उसे और भी तहसनहस कर दिया। बुरी तरह से बेरोज़गारी बढ़ी है। लाखों ख़ाली पदों पर नयी भर्ती हो ही नहीं रही है। उन पदों पर दिहाड़ी पर काम करवा लिया जाता है, आइ एम एफ़-विश्वबैंक आदि से संचालित नवउदारवादी एजेंडे के दासानुदास सरकारी नेतृत्व के चलते स्थायी नौकरियां युवाओं को अब शायद ही उपलब्ध हों। उन्हीं नीतियों के दबाव में आम जन पर परोक्ष या अपरोक्ष नित नये कर लगाकर देश की विशाल आबादी को तबाह किया जा रहा है, वहीं सत्तासीन नेताओं के ऐशो आराम पर, क़ीमती सूटबूट और निजी सैर सपाटे के लिए 'पुष्पक विमान' पर करोड़ों रुपये पूरी बेशर्मी के साथ ख़र्च किये जा रहे हैं। चहेते पूंजीपतियों के करोड़ों के क़र्ज़ माफ़ किये जा रहे हैं, किसान मज़दूरों की राहत के लिए सरकारी ख़ज़ाने में पैसा ही नहीं, उनके लिए हर बजट में कटौती की जाती है। सरकारी कर्मचारियों का मंहगाई भत्ता समय पर देने के लिए धन के अभाव का रोना रोया जाता है, जबकि 'सेंट्रल विस्टा' जैसे अनुत्पादक निर्माण और इंडिया गेट के आसपास के ख़ूबसूरत क्षेत्र को कंकरीट के जंगल में तब्दील करने के पागलपन पर करोड़ों रुपये बरबाद करने की परियोजना शुरू हो चुकी है। मोदी सरकार किसी की सुनती नहीं, किसी से संवाद करने में यक़ीन नहीं रखती, इसीलिए भाजपा के भक्त कई जानेमाने अर्थशास्त्री, जैसे अरविंद पनगड़िया, अरविंद सुब्रमनियन भी सलाहकार पद छोड़कर भाग गये क्योंकि सर्वज्ञ प्रधानसेवक के 'ज्ञान' के आगे उन्हें कोई गिनता ही नहीं था। वे दुखी थे क्योंकि प्रधानसेवक के मुंह से हमेशा 'झूठ' ही निकलता था। यह सिलसिला जारी है। अभी हाल ही में 26 मार्च 2021 को बांग्लादेश में कह दिया कि वे बांग्लादेश के लिए 21 बरस की उम्र में 'सत्याग्रह' में जेल गये थे, उनके इस ताज़ातरीन झूठ का सोशल मीडिया और अख़बारों ने भी मज़े लेकर पर्दाफ़ाश किया।

इस बरस सर्वहारावर्ग की सबसे पहली क्रांति, पेरिस कम्यून की 150वीं वार्षिकी दुनियाभर में मनायी जा रही है। नवोदित सर्वहारावर्ग ने 18 मार्च 1871 को पेरिस का प्रशासन अपने हाथों में लेकर एक मॉडल व्यवस्था क़ायम की थी, जिसे फ्रांस के पूंजीपतिवर्ग ने पूरी बर्बरता और क्रूरता से कुचल दिया था और 28 मई 1871 को फिर से पूंजीवादी आधिपत्य क़ायम कर लिया था। इस प्रयोग में, लेनिन के आकलन के मुताबिक़ तक़रीबन एक लाख कामरेड या तो मारे गये या घायल या दरबदर हो गये। हम लेखक जो आम जन और विश्वसर्वहारा के स्वप्न से प्रतिबद्ध हैं, उन शहीदों को सलाम करते हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

पेरिस कम्यून : सर्वहारा क्रांति की विरासत

चंचल चौहान

इस साल पेरिस कम्यून की 150वीं वार्षिकी दुनिया भर की सर्वहारा ताक़तें मना रही हैं। मानव इतिहास में पहली बार नवोदित सर्वहारावर्ग ने अपनी क्रांतिकारी ताक़त से विश्वपूंजीवाद के विनाश का बिगुल बजा दिया था, जब 18 मार्च 1871 के दिन फ्रांस के पूंजीपति वर्ग के हाथों से उसने पेरिस की सत्ता छीन कर अपनी राजसत्ता क़ायम करने की पहली कोशिश की थी। यह कोशिश अनेक कारणों से नाकाम रही जिसमें कई हज़ार कम्युनिस्ट शहीद हो गये थे, पूंजीपतिवर्ग ने एक बड़ा क़त्लेआम करके सर्वहारा के प्रथम क्रांतिकारी उभार को दबा दिया था। पेरिस कम्यून पहला अवसर था जब सर्वहारा वर्ग इतनी बड़ी ताक़त से इतिहास के मंच पर प्रकट हुआ। पहली बार, नये क्रांतिकारी वर्ग ने यह दिखा दिया कि वह पूंजीवाद की राज्य सत्ता को उखाड़कर समतावादी समाज की नींव रखने में सक्षम है। पेरिस कम्यून की घटना ने यह साबित किया कि मानवसमाज के विकास के पूंजीवादी दौर में सर्वहारा ही वह क्रांतिकारी वर्ग है जो ऐसे समाज की रचना कर सकता है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नहीं होगा, सच्चे मायनों में लोकतंत्र होगा यानी 'जनता द्वारा जनता के लिए सरकार' होगी।

पेरिस कम्यून को दुनियाभर के कम्युनिस्ट समय समय पर याद करते रहते हैं जिससे मज़दूरवर्ग यह न भूले कि उसे अपना क्रांतिकारी कार्यभार पूरा करना है, जहां भी जब भी वस्तुगत परिस्थितियां क्रांति के लिए तैयार हों, वह अपना दायित्व पूरा करे। पेरिस कम्यून के 20 बरस पूरे होने पर जब लंदन में 18 मार्च 1891 के दिन उसे याद किया गया तो उसमें फ्रेडरिख़ एंगेल्स का ऐतिहासिक भाषण हुआ था जिसे मार्क्स की पुस्तक, *फ्रांस में गृहयुद्ध* के अंत में जोड़ दिया गया। मार्क्स की पुस्तक, 'अंतरराष्ट्रीय कामगारों की एसोशिएशन' के सामने दिये गये भाषणों का संग्रह है जो उसी दौर में लिखे गये थे जब फ्रांस के सर्वहारा की नयी क्रांति का उभार हुआ था और उस पुस्तक में शामिल तीसरे संबोधन में पेरिस कम्यून का पूरा विश्लेषण मार्क्स ने किया था, उन्होंने लिखा :

> The multiplicity of interpretations to which the Commune has been subjected, and the multiplicity of interests which construed it in their favor, show that it was a thoroughly expansive political form, while all the previous forms of government had been emphatically repressive. Its true secret was this:
> It was essentially a working class government, the product of the struggle of the producing against the appropriating class, the political form at last discovered under which to work out the economical emancipation of labor.(कम्यून की जो भांति भांति की व्याख्याएं हुई हैं, और जिनमें भांति भांति के हित निहित दिखायी दिये हैं, उनसे यह साफ़ है कि यह क्रांति पूरी तरह विस्तृत राजनीतिक स्वरूप लिये हुए थी, जबकि इससे पहले की तमाम सरकारें पूरी तरह दमनकारी थीं, इसका रहस्य यह था कि : यह तत्वत: मज़दूरवर्ग की सरकार थी जो उत्पादनकर्ता के उस संघर्ष से उपजी थी जो उत्पादन को हड़प जाने वाले वर्ग के ख़िलाफ़ चला था, जिसने अंतत: ऐसी राजनीतिक व्यवस्था खोज निकाली थी जिसमें श्रम के आर्थिक शोषण से मुक्ति संभव थी।)

संक्षेप में यहां यह बता दिया जाये कि आख़िर पेरिस कम्यून में हुआ क्या था। दर असल, मुख्य घटना 18 मार्च 1871 को हुई जब मज़दूरवर्ग ने पेरिस में अपना प्रशासन लागू कर दिया। 1870 के फ्रांस-प्रशा युद्ध में सेडान में नेपोलियन बोनापार्ट की हार के सात महीने बाद यह ऐतिहासिक अवसर मज़दूरवर्ग को मिल गया। एक उभार 4 सितंबर 1870 को हुआ जब बोनापार्ट की सैन्य कार्रवाइयों द्वारा थोपी भीषण परिस्थितियों के ख़िलाफ़ पेरिस की सर्वहारा ताक़तें उठ खड़ी हुईं। जब गणतंत्र की घोषणा की गयी तब प्रशा के बिस्मार्क की सेना पेरिस के मुख्य दरवाज़े पर पड़ाव डाले हुए थी। प्रशा की सेना का मुक़ाबला करने और पेरिस की सुरक्षा के लिए गठित राष्ट्रीय सुरक्षा गार्ड्स को ज़िम्मेदारी दी गयी, जिनमें पहले निम्नमध्यम वर्ग की टुकड़ियां शामिल थीं, बाद में उसमें बड़ी तादाद में सर्वहारावर्ग शामिल हो गया और जिससे उसका स्वरूप ही बदल गया। प्रशियाई हमलावरों के ख़िलाफ़ जंग करते हुए नेशनल गार्ड्स को सैनिक अनुशासन का अनुभव हासिल हो गया। जब 131 दिन की घेराबंदी के बाद फ्रांस की सरकार ने प्रशा की सेना के साथ युद्ध विराम के समझौते पर दस्तख़त किये, तब पूंजीवादी गणतांत्रिक सरकार के नये नेता, एम थियरे ने समझा कि युद्धस्थिति की समाप्ति के साथ यह आवश्यक है कि पेरिस के सर्वहारा को तुरंत निहत्था कर दिया जाये। वह समझ रहा था कि शासक वर्ग के वजूद के लिए नेशनल गार्ड अब एक ख़तरा बन सकते हैं। तब 18 मार्च 1871 को थियरे ने पहले छल-कपट का सहारा लिया। उसने यह दलील दी कि हथियार राज्य की संपत्ति हैं इसलिए उसने 200 से अधिक तोपों से सज्जित राट्रीय सुरक्षा गार्डों के तोपख़ाने को, जिसे मज़दूरों ने मोमार्ट तथा बैलेविली में छिपा दिया था, छीनने के लिए सेना की टुकड़ियां भेजीं। मज़दूरों के कारगर प्रतिरोध और सेना व पेरिस की आबादी के बीच पैदा हुए भाईचारे के कारण एम. थियरे की चाल नाकाम रही। पेरिस के रक्षकों को निहत्था करने की चाल ने पूंजीवादी सरकार के विरुद्ध पेरिस के अवाम को ही खड़ा कर दिया और इससे पेरिस के रक्षक सर्वहारा वर्ग और वर्साई में छिप कर बैठी पूंजीवादी सरकार के बीच गृहयुद्ध छिड़ गया। 18 मार्च को राट्रीय सुरक्षा गार्डों की केंद्रीय कमेटी ने, जिसने अस्थायी तौर पर सत्ता की बागडोर संभाली थी, घोषणा की : 'शासक वर्गों की फूटपरस्ती और ग़द्दारियों के बीच राजधानी के सर्वहारा ने समझ लिया है कि अब घड़ी आ गयी है कि वह सार्वजनिक मामलों को अपने हाथों में लेकर स्थिति को नियंत्रण में करे (...)। सर्वहारा ने समझ लिया है कि यह उसका नैतिक अधिकार और पूर्ण कर्तव्य है कि वह अपने भाग्य को अपने हाथों में ले ले, और इसकी जीत को सुनिश्चित करने के लिए सत्ता पर कब्ज़ा कर ले'। उसी दिन कमेटी ने सार्वभौम मताधिकार के आधार पर विभिन्न ज़िलों से प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की घोषणा की। ये चुनाव 26 मार्च को संपन्न हुए; और दो दिन बाद कम्यून की घोषणा कर दी गयी। इसमें बहुत सारे रुझानों का प्रतिनिधित्व था : जहां ब्लांकीवादियों का बहुमत था वहीं अल्पमत के सदस्य अधिकतर 'इंटरनेशनल वर्कर्स एसोशियेसन' (प्रथम इंटरनेशनल) से जुड़े प्रूधोंवादी समाजवादी थे।

वर्साई शहर में जा बैठी, पूंजीवाद से नाभिनालबद्ध फ्रांस की सरकार ने सर्वहारा वर्ग के कब्ज़े से पेरिस को वापिस हासिल करने के लिए वहशी हमला किया। फ्रांस का पूंजीपतिवर्ग प्रशा की सेना द्वारा राजधानी पर जिस अमानवीय बमबारी की रातदिन भर्त्सना करता था, वही अमानवीय बमबारी लगातार दो महीने तक, पेरिस कम्यून पर फ्रांस की उसी पूंजीवादी सरकार ने की। प्रशा के पूंजीवादी शासकों ने भी फ्रांस के कई हज़ार बंदी सिपाही रिहा करके थियरे सरकार को सौंप दिये जो पेरिस कम्यून पर वहशी हमला करने के काम में मददगार साबित हुए। 28 मई 1871 को पेरिस कम्यून का वह पहला प्रयोग पूंजीवाद के ख़ूनी जबड़ों में समा गया। इसमें शहीद होने वाले कामरेडों की तादाद हज़ारों में थी। मार्क्स की सबसे छोटी बेटी ने एक ऐसे कामरेड से पेरिस कम्यून का इतिहास लिखवाया जो उस क्रांति में शामिल था और क़त्लेआम से किसी तरह बचकर लंदन पहुंच गया था, उस इतिहास का अनुवाद अंग्रेज़ी में ख़ुद उसी बेटी ने किया था और अपनी भूमिका के अंत में उस दौर के दो अख़बारों में से शहीदों की तादाद

वाली कतरनें भी दी थीं। इसी बरस यानी 2021 के 18 मार्च के *गार्जियन* अख़बार ने भी उस दौर के अख़बारों के अंशों को दुबारा प्रकाशित करके दुनिया के सामने इस सच्चाई को पेश किया कि किस तरह पूंजीपतिवर्ग सर्वहारा को गुलाम बनाये रखने के लिए किस हद तक बर्बर और वहशी हो सकता है, उन कतरनों से भी यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि शहीद होने वाले व घायल हुए कामरेडों की तादाद साठ हज़ार से ऊपर ही रही होगी। लेनिन ने 1911 में प्रकाशित अपने एक लेख में इस संख्या को एक लाख तक बताया। इससे पहले एंगेल्स की ही तरह 18 मार्च 1908 को पेरिस कम्यून की वार्षिकी के अवसर पर जेनेवा में एक अंतरराष्ट्रीय सभा में लेनिन का व्याख्यान हुआ था जिसमें बहुत ही प्रेरणाप्रद तरीक़े से उन्हींने उस क्रांति की व्याख्या पेश की थी। बाद में एक व्याख्यान 1911 में छपा, उसके बाद तो 1917 में लिखी मशहूर किताब, *राज्य और क्रांति* में मार्क्स-एंगेल्स आदि के द्वारा पेरिस कम्यून से संबंधित तमाम विश्लेषणों की व्याख्या लेनिन ने उसमें शामिल की। लगता है, लेनिन एक पल के लिए भी पेरिस कम्यून को नहीं भूले थे।

पेरिस कम्यून के रूप में नवोदित सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में हुई पहली क्रांति से ले कर आज तक करोड़ों की तादाद में दुनिया के तमाम देशों में कामरेडों के साथ इस तरह का वहशी सलूक होता चला आ रहा है। सिर्फ़ इसलिए क्योंकि वे इस इंसानी दुनिया को शोषणमुक्त बनाने के संघर्ष में शामिल होने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं, मगर इंसान व इंसान के बीच ग़ैरबराबरी और ग़ुलामी को वैध समझने वाली व्यवस्था को यह संघर्ष क़तई बरदाश्त नहीं।

पेरिस कम्यून की अल्पकालिक सर्वहारा क्रांति की विफलता और उसके बाद फिर सर्वहारा की 1917 की अक्टूबर क्रांति की लंबे अरसे के बाद विफलता के कारणों की पड़ताल अपने अपने वर्गीय नज़रिये से दुनिया के विचारकों ने की। मार्क्स-एंगेल्स ने खुद ही उस घटना की व्याख्या की। उनकी व्याख्या में मुख्य ज़ोर इस वैज्ञानिक सत्य पर था कि वर्गसमाज में दमनतंत्र (सेना, पुलिस, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि) शोषकशासक वर्गों के हाथ में होता है, भले ही राजसत्ता किसी भी राजनीतिक घटक के पास आ जाये। एंगेल्स ने 20वीं वार्षिकी के अवसर पर अपने व्याख्यान में इसी मत को दुहराया :

> In reality, however, the state is nothing but a machine for the oppression of one class by another, and indeed in the democratic republic no less than in the monarchy; and at best an evil inherited by the proletariat after its victorious struggle for class supremacy, whose worst sides the proletariat, just like the Commune, cannot avoid having to lop off at the earliest possible moment, until such time as a new generation, reared in new and free social conditions, will be able to throw the entire lumber of the state on the scrap-heap. (Engels - London, on the 20th anniversary of the Paris Commune, March 18, 1891.)
>
> (सच्चाई यह है कि राज्य एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग पर दमन करने की मशीन के अलावा और कुछ नहीं होता है, लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी उतना ही जितना सामंती व्यवस्था में। जब सर्वहारा अपनी वर्गीय श्रेष्ठता के संघर्ष में विजयी होता है जैसा कि पेरिस कम्यून में हुआ, तो उसे भी इस दमनतंत्र की विरासत एक अनिवार्य बुराई के रूप में मिलती है जिसे वह तब तक झेलता है जब तक जल्द ही वह नये आज़ाद सामाजिक परिवेश में पली बढ़ी नयी पीढ़ी को तैयार नहीं कर लेता जो पुराने राज्यतंत्र को समाप्त कर सके।)

ज़ाहिर है कि पेरिस कम्यून की केंद्रीय कमेटी को यह सब करने के लिए समय ही नहीं मिला जिसका उल्लेख मार्क्स व एंगेल्स ने इस विषय पर व्यक्त अपने विचारों में किया था। लेनिन ने भी पेरिस कम्यून की व्याख्या, अपने नज़रिये से की और उसकी शक्ति और सीमाओं को बेलाग तरीक़े से विश्व सर्वहारा के सामने रखा, उसके अनुभवों से सीख लेते हुए सोवियत क्रांति में सफलता हासिल की। यह दुहराने की ज़रूरत नहीं कि विश्वसर्वहारा के

मुक्तिसंघर्ष के ये दो बड़े पड़ाव थे, जो कुछ वस्तुगत और निजगत (objective and subjective) कारकों की वजह से असफल हो गये और विश्वपूंजीवाद के पक्ष में दुनिया का वर्गीय संतुलन फिर से क़ायम हो गया। आज हम ऐसे ही दौर में रह रहे हैं जिसमें विश्वपूंजीवाद अपने चरम विकसित और नये रूप यानी अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की शक्ल में ग्लोबल विलेज पर अपना वर्चस्व क़ायम कर चुका है, उसे फ़िलहाल किसी विश्वसर्वहारा शक्ति से चुनौती नहीं मिल रही है।

पेरिस कम्यून और सोवियत क्रांति की विफलता के कारणों पर बहुत तरह की बहस हुई है, मगर एक वस्तुगत भूल को कम ही रेखांकित किया गया है। पेरिस कम्यून की विफलता पर लेनिन ने अप्रैल 1911 में लिखे एक लेख में ज़रूर उस भूल की ओर इशारा किया था :

> For the victory of the social revolution, at least two conditions are necessary: a high development of productive forces and the preparedness of the proletariat. But in 1871 neither of these conditions was present. French capitalism was still only slightly developed, and France was at that time mainly a country of petty-bourgeoisie (artisans, peasants, shopkeepers, etc.). On the other hand there was no workers'party, the working class, which in the mass was unprepared and un-trained, did not even clearly visualise its tasks and the methods of fulfilling them. There were no serious political organisations of the proletariat, no strong trade unions and co-operative societies. (समाजवादी क्रांति के लिए कम से कम दो परिस्थितियां अनिवार्य होती हैं : उत्पादक शक्तियों का उच्च विकास और सर्वहारा की अपनी तैयारी। मगर 1871 में इनमें से कोई परिस्थिति मौजूद नहीं थी। फ्रांसीसी पूंजीवाद अभी थोड़ा सा ही विकसित हुआ था, उस समय वह मुख्य रूप से निम्नपूंजीवादी आबादी (कारीगरों, किसानों, दुकानदारों आदि) का ही देश था। इसके अलावा वहां मज़दूरवर्ग की कोई पार्टी नहीं थी, सर्वहारा के बड़े हिस्से की न तो कोई तैयारी थी और उसे कोई ट्रेनिंग मिली थी। इसलिए वह अपने कार्यभार और उन्हें अमल में उतारने की कोई स्पष्ट रूपरेखा देख पाने में समर्थ नहीं था। उसकी अपनी कोई गंभीर राजनीतिक संस्थाएं, मज़बूत ट्रेड यूनियनें या कोआपरेटिव सोसाइटियां वग़ैरह भी नहीं थीं)

लेनिन की उक्त व्याख्या का एक हिस्सा सोवियत संघ के विघटन पर भी उतना ही लागू होता है जितना पेरिस कम्यून की विफलता पर। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने पेरिस कम्यून, और खुद के 1905 के जनवादी उभार से सीख हासिल करते हुए अक्टूबर क्रांति को सफल बनाया तो इस वजह से कि तब तक विश्व सर्वहारा वर्ग हर जगह एक पार्टी के रूप में और ट्रेड यूनियनों व अन्य क्रांतिकारी अनुशासित दस्तों के रूप में बेहद संगठित था, रूस में उस समय सबसे अधिक संगठित और शक्तिशाली भी था, मगर 'उत्पादक शक्तियों का उच्च विकास' रूस में भी नहीं था। रूस में पूंजीवाद विश्वपूंजीवाद की 'सबसे कमज़ोर कड़ी' था, इसीलिए मार्क्स की अवधारणा के विपरीत, लेनिन ने यह कहा कि सर्वहारा क्रांति उन्हीं देशों में संभव होगी जो 'विश्वपूंजीवाद की सबसे कमज़ोर कड़ी' होंगे। इसमें एक कारक और जोड़ना होगा, क्रांति तभी सफल होगी जब शासकवर्ग समाज पर किसी भी तरह अपना शासन करने की शक्ति खो बैठेगा। अब तक जो भी क्रांतियां हुई हैं उनमें यह कारक भी काम करता आया है। पिछले अरसे में नेपाल में हुए घटनाविकास को भी इसी रोशनी में समझा जा सकता है।

सोवियत संघ के विघटन के अनेक कारकों में से एक यह भी था कि विश्व सर्वहारा वर्ग ने पूंजीवादी विकास की मंज़िल का दोषपूर्ण आकलन किया था और उसमें उत्पादक शक्तियों के विकास की अभूतपूर्व क्षमताओं को न समझ पाने की भूल की थी। लेनिन ने पेरिस कम्यून पर पहले व्याख्यान में क्रांति के लिए पूंजीवाद में 'उत्पादक शक्तियों के चरम विकास' की जो बात कही थी, उसे भुला दिया गया। सन् 1960 में विश्व की 81 कम्युनिस्ट पार्टियों का एक सम्मेलन हुआ था। उस समय के घटनाक्रमों को देखते हुए उसमें जो दस्तावेज़ पारित हुआ था उसमें ही विश्वपूंजीवाद के बारे में एक ग़लत समझ बना ली गयी थी कि मानव समाज के विकास का मौजूदा दौर

विश्वपूंजीवाद के 'पतन' का दौर है और समाजवाद के 'उत्थान' का। विश्वपूंजीवाद को मरणासन्न मानने का वह भ्रांतिपूर्ण विचार उस दिन तक दुनियाभर के कम्युनिस्टों में गहरे तक बैठा हुआ था जिस दिन आसानी से सोवियत संघ ढहा दिया गया, इस बार कोई ख़ूनख़राबा भी नहीं हुआ, और विश्वपूंजीवाद ने अपना वर्चस्व फिर से क़ायम कर लिया। दुनियाभर का सर्वहारावर्ग चकित, स्तब्ध और शोकमग्न था, उसकी आंखों के सामने अक्टूबर क्रांति से बनी नयी व्यवस्था भरभराकर ध्वस्त हो रही थी, लेनिन की मूर्ति ही नहीं, उनका सपना भी तोड़ा जा रहा था। जहां विश्वपूंजीवाद उत्पादक शक्तियों को विकास के शिखर की ओर ले जा रहा था, टेक्नालॉजी के अभूतपूर्व उत्थान में निवेश कर रहा था, अधिक से अधिक मुनाफ़े के लिए नये से नये अनुसंधानों को बढ़ावा दे रहा था, वहीं सोवियत व्यवस्था टेक्नोलॉजी के सर्वांगीण विकास में अवरोधक बन रही थी, खेती के क्षेत्र में भी अवरोध आ चुका था। विश्वपूंजीवाद अपनी पुरानी मंज़िल पार कर 'अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' की नयी मंज़िल में दाख़िल हो चुका था जिसका संकेत ख़ुद लेनिन ने आंकड़े दे कर, अपनी कालजयी रचना, *साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की उच्चतम मंज़िल* के बिल्कुल अंतिम हिस्से में दिया था।

विश्वपूंजीवाद ने अपना नया चोला, यानी अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का चोला, लेनिन की मृत्यु के ठीक बीस साल बाद यानी 1 जुलाई से 22 जुलाई 1944 तक आयोजित किये गये 'ब्रेटन वुड्स' सम्मेलन में धारण किया जहां से आइ एम एफ़, विश्वबैंक और डब्ल्यू टी ओ जैसी नयी संरचनाएं वजूद में आयीं और आज सारी दुनिया उन्हीं की गिरफ़्त में है। विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियां इस नये घटनाविकास को 1960 तक नहीं समझ पा रही थीं, वे उल्टे विश्वपूंजीवाद को 'पतनशील' और 'समाजवाद' को विकासशील मानने की भ्रांति का शिकार हो रही थीं। यह भ्रांति सोवियत व्यवस्था के पतन के बाद कुछ कम्युनिस्टों को समझ में ज़रूर आयी, मगर व्यापक हिस्सों में अभी भी विश्वपूंजीवाद को 'पतनशील' 'मरणासन्न' मानने का साठोत्तरी विचार मज़बूती से गहरे पैठा हुआ है।

विश्वपूंजीवाद मार्क्स के ज़माने से ही थोड़े थोड़े अंतराल के बाद भयंकर आर्थिक संकट का शिकार होता रहता है, क्योंकि उसकी फ़ितरत ही असमान विकास की ओर समाज को धकेलने की है जिसकी वजह से इज़ारेदारियां अपार पूंजी का संचय कर लेती हैं, और शोषित तबक़ों में उत्पादित माल ख़रीदने की ताक़त नहीं रहती जिससे पूंजीवाद हर बार आर्थिक संकट का सामना करता है। मगर टेक्नोलॉजी में क्रांति लाकर वह इस संकट से उबरता रहता है। खुद मार्क्स ने अपने *मैनिफ़ैस्टो* में इस महत्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, जिसे अक्सर भुला दिया जाता है, उन्होंने *मैनीफ़ैस्टो* के पहले ही अध्याय में लिखा था कि 'The bourgeoisie cannot exist without constantly revolutionising the instruments of production, and thereby the relations of production, and with them the whole relations of society.'

यही तो घटित हुआ! विश्व की तमाम कम्युनिस्ट पार्टियों के 1960 के दस्तावेज़ को वेदवाक्य मानकर विश्वपूंजीवाद को अशक्त, वृद्ध या पतनशील, ह्रासोन्मुख समझने की ग़लती ने काफ़ी नुक़सान कर दिया। दुनियाभर की प्रगतिशील साहित्यिक रचनाओं में भी इसका प्रतिबिंब देखा जा सकता है। सोवियत संघ का नेतृत्व यह देख ही नहीं पा रहा था कि उसके चारों ओर विश्वपूंजीवाद किस तरह हर क्षेत्र में नयी टेक्नोलॉजी, हर रोज़ नये आविष्कार, हर रोज़ आम उपभोक्ता के काम आने वाले उत्पाद बनाकर दुनियाभर के बाज़ार पर कब्ज़ा किये जा रहा है, किस तरह सारी दुनिया के श्रम का अतिरिक्त मूल्य 'अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी' में तब्दील हो कर आइ एम एफ़, विश्वबैंक व अन्य वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से उत्पादन के साधनों को विकसित करने में लगा हुआ है। सोवियत संघ इस दौड़ में बहुत पीछे रह गया था, उपभोक्ता सामग्री ही नहीं, कृषि में भी नये नये बीज आदि के जो प्रयोग पूंजीवादी देशों में हो रहे थे, वहां ठहराव था। इसीलिए जनता को सोवियत व्यवस्था के बजाय पूंजीवाद में उत्पादक शक्तियों के विकास की संभावनाएं नज़र आयीं और इसीलिए जनता ने सोवियत व्यवस्था को आसानी से ढह जाने दिया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने इस युगीन यथार्थ को ठीक से समझा और अपने यहां की उत्पादक शक्तियों के विकास के

लिए उसने विश्वपूंजीवाद के नये अवतार से पूरा फ़ायदा उठाया। चीन ने अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से जो क़र्ज़ा ले रखा है उसमें से विश्वबैंक की एक शाखा आइ बी आर डी और दूसरी आइ डी ए का कुल क़र्ज़ 2019 तक क्रमश: 1,620.6 और 521.8 मिलियन डालर है। अंतरराष्ट्रीय क़र्ज़ चीन काफ़ी पहले से लेता आ रहा है जिससे वह अपने यहां उत्पादक शक्तियों को उच्चतम स्तर तक पहुंचा सके। उसके विदेशी क़र्ज़ के नीचे दिये गये कुछ आंकड़ों से इस यथार्थ को समझा जा सकता है: (ये आंकड़े मिलियन अमेरिकी डालर में हैं)

वर्ष	*2009*	*2015*	*2016*	*2017*	*2018*	*2019*
क़र्ज़	454,515	1,333,777	1,413,804	1,704,516	1,961,528	2,114,163

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का मानना है कि चीन में 'समाजवाद' की स्थापना 2049 में हो पायेगी जब उत्पादक शक्तियों का 'चरम विकास' शायद हो जायेगा। अभी तक अनेक कम्युनिस्ट पार्टियां पूंजीवाद के सामने नया आर्थिक संकट आते ही यह मान लेती हैं कि बस अब 'समाजवाद' की स्थापना का समय आ गया है। उनके हर दस्तावेज़ में यह अंकित किया हुआ देखा जा सकता है। जब 2008 में ऐसा संकट आया था तब इस तरह के विचार ख़ूब सामने आ रहे थे, मगर विश्वपूंजीवाद अपने नये अवतार यानी अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के रूप में उससे आसानी से उबर गया। अभी उस संकट के दस साल बाद 2018 में संकट का दूसरा दौर शुरू हुआ तो उससे उबरने में कोविड-19 ने मदद कर दी, पहले से बना हुआ माल बिक गया, मज़दूरों को वेतन नहीं देना पड़ा। नयी टेक्नोलॉजी से नये उत्पाद, मास्क, पीपीइ किट, नयी दवाइयां, नयी वैक्सीन, नये कंप्यूटर, नये मोबाइल फ़ोन आदि का उत्पादन होने से अवरोध टूट गया, सारे उद्योगों और बैंको को नया जीवनदान मिल गया, अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी ने दुनियाभर के देशों को नये क़र्ज़ों से लाद दिया, उसी के निर्देशों पर आम जनता पर नये करों का बोझ डालने, महामारी की आड़ में अनेक तरह के जनविरोधी क़ानून पारित करने और शोषण की प्रक्रिया तेज़ करने में क़र्ज़ों से लदी सरकारों ने बहुत ही फ़ुर्ती दिखायी। 'आत्मनिर्भर' और 'विश्वगुरु' भारत का जुमला हर वक़्त उच्चारित करने वाले यह नहीं बताते कि इस देश पर भी मौजूदा सरकार ने कितना विदेशी क़र्ज़ लाद दिया है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया के अनुसार भारत पर यह क़र्ज़ मार्च 2020 तक 558.5 मिलियन अमेरिकी डालर हो गया है जबकि 2014 में वह 440.6 मिलियन डालर था। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के दबाव में मोदी सरकार तमाम जनतांत्रिक मूल्यों को रौंदती हुई कारपोरेट पूंजी के निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए जनविरोधी, असहिष्णु, बर्बर और निरंकुश हो गयी है। श्रमशील जनता का शोषण दमन तेज़ हो रहा है। यह ज़रूर है कि इस दौर में पेरिस कम्यून जैसी घटना इस दमनचक्र के विरोध में भले ही कहीं न हो रही हो, कारपोरेट पूंजी के बढ़ते शिकंजे का प्रतिरोध करने के लिए भारत के किसानों ने ज़रूर एक व्यापक जनआंदोलन का उभार दुनिया को दिखा दिया है जिसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में नहीं है। यह प्रतिरोध जारी है।

ऐसे समय में पेरिस कम्यून की याद आना स्वाभाविक ही है। उस समय की फ्रांस की 'लोकतांत्रिक' सरकार आम जन को राहत देने में नाकारा थी, उस पर भयंकर करों का बोझ था, प्रशा के हमले से भी खुद की रक्षा करने में भी वह सक्षम नहीं थी, नेशनल गार्डों में शामिल सर्वहारा के दस्तों ने ही पेरिस की हिफ़ाज़त की थी, और अल्पकाल के लिए ही सही, पेरिस में एक आदर्श प्रशासन चला कर दुनिया के सामने नया माडल पेश किया था जिसे पूंजीपतिवर्ग ने वहशी तरीक़े से रौंद डाला था। पेरिस कम्यून के बहादुर कामरेडों के बलिदानों को हम कैसे भूल सकते हैं?

मो. 9811119391

वैचारिक विमर्श

हिन्दुत्व बनाम हिन्दू धर्म

आदित्य निगम

> समस्त राजनीति का हिंदूकरण करो और हिंदूतंत्र का सैन्यीकरण करो – और तब हमारे हिंदू राष्ट्र (नेशन) का पुनरुत्थान होना तय है, उसी तरह जैसे अंधेरी रात के बाद सुबह का आना अनिवार्य होता है।
>
> -विनायक दामोदर सावरकर, 25 मई 1941 को अपने 59 वें जन्मदिन पर हिंदुतंत्र (हिंदूडम) के नाम संदेश।

> हमारी भुजाएं एक ओर अमेरिका तक फैली थीं – कोलंबस के अमेरिका 'आविष्कार' से बहुत पहले – तो दूसरी ओर चीन, जापान, कंबोडिया, मलय, श्याम, इंडोनेशिया और समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैली हुई थीं, और उत्तर में मंगोलिया और साइबेरिया तक। हमारा शक्तिशाली राजनीतिक साम्राज्य इन दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रों तक फैला था और 1400 वर्षों तक जारी रहा, अकेले शैलेंद्र साम्राज्य 700 वर्षों तक फलता फूलता रहा – और चीन के विस्तार के ख़िलाफ़ चट्टान की तरह खड़ा रहा।
>
> - माधव सदाशिव गोलवालकर, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दूसरे सरसंघचालक, *बंच ऑफ़ थॉट्स*, विक्रम प्रकाशन, बंगलोर, 1968, पृ. 9

हिंदुत्व-विचारतंत्र के इन दो महारथियों की ये उक्तियां पढ़ने के बाद आइए अब एक उद्धरण उस शख़्स का देखें जिसे हड़पने की पुरज़ोर कोशिश हिंदुत्ववादी किया करते हैं। यह शख़्स और कोई नहीं, स्वामी विवेकानंद हैं। मुलाहिज़ा फरमाएं :

> भावनाओं का ताल्लुक़ इंद्रियों से ज़्यादा होता है अक़्ल (तर्कबुद्धि) से कम; और इसीलिए जब उसूल सिरे से ग़ायब हो जाते हैं और भावनाएं कमान संभाल लेती हैं तब धर्म कट्टरता में बदल जाते हैं... तब वे किसी मायने में पार्टीगत राजनीति से बेहतर नहीं रह जाते हैं... सबसे भयंकर क़िस्म के अज्ञानतापूर्ण ख़याल उठा लिये जायेंगे और उनके लिए हजारों लोग अपने ही भाइयों के गले काटने पर उतर आयेंगे'।
>
> - स्वामी विवेकानंद, 'द मेथड्स एंड पर्पस ऑफ़ रिलिजन', *द डेफ़िनिटिव विवेकानंद*, रूपा, नयी दिल्ली, 2018, पृ. 211

हिंदुत्व का सरोकार राजनीति से है धर्म से नहीं

ऊपर उद्धृत सावरकर और गोलवालकर के कथनों से यह साफ़ हो जाना चाहिए कि 'हिंदुत्व' का सरोकार धर्म, विश्वासों या उन मूल्यों से क़तई नहीं है जो लोगों की रोज़ाना ज़िंदगियों में राह दिखाते हैं बल्कि सिर्फ़ और सिर्फ़ राजनीति से है। अगर सावरकर पूरी राजनीति का हिंदूकरण और जिसे वे 'हिंदूतंत्र' कहते हैं उसका सैन्यीकरण चाहते थे, तो वह फ़क़त इसलिए कि वे हिंदू धर्म और 'हिंदुत्व' या 'हिंदूपन' का इस्तेमाल करके एक हिंसक राष्ट्रवादी राजनीति और पहचान गढ़ना चाहते थे। उनका यह नज़रिया जिसे हम आज 'हिंदुत्व' के नाम से जानते हैं उसके हिंसा-प्रेम और शस्त्र-मोह के लिए बिल्कुल केंद्रीय महत्व रखता है। हमारे मौजूदा प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी की 'शस्त्र पूजा' करते हुए तस्वीरें तो आप को याद ही होंगी जो उनके गुजरात के मुख्यमंत्री-काल की हैं। इस मौक़े पर हमें यह

भी याद कर लेना चाहिए कि इस साल के बजट में एक सौ सैनिक स्कूल खोलने की पेशकश की गयी है जिन्हें 'ग़ैर सरकारी संगठनों' के साथ मिलकर खोला जाना है। हैरत में न पड़िएगा अगर यह पता चले कि ये सभी संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े संगठन ही निकलें।

यह कोई हमारी मनगढ़ंत कल्पना नहीं है। हिंदुत्व की संघ की समझ सीधे सीधे सावरकर के उस आदेश से निकलती हैं जिसमें वे राजतंत्र (पॉलिटी) के हिंदूकरण और हिंदूतंत्र के सैन्यीकराण की बात करते हैं – बावजूद इसके कि खुद सावरकर कभी संघ में शामिल नहीं हुए।

अब ज़रा एक बार दूसरे उद्धरण पर नज़र डालें जो संघ के सरसंघचालक गोलवालकर का है। यह साफ़ है कि इसका ताल्लुक़ भी धर्म से नहीं है - बल्कि इसमें हमें दुनिया के बारे में एक खुल्लमखुल्ला विस्तारवादी सैन्यवादी राजनीतिक दृष्टि देखने को मिलती है। यहां गोलवालकर 'दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रों में' 1400 सालों तक क़ायम रहे 'हमारे शक्तिशाली राजनीतिक साम्राज्य' के प्रताप की धूप का आनंद लेते नज़र आते हैं। और मेहरबानी कर के यह समझने की भूल न करें कि यह किसी गये ज़माने के ख़याली इतिहास का महिमा मंडन भर है – क्योंकि संघ के लिए यह तसव्वुर उसके वजूद का कारण है; उसका अस्तित्व ही इस तरह के ख़यालों पर टिका है। 1925 में अपने गठन से लेकर आज तक वह सिर्फ़ बाबर और औरंगज़ेब के ख़िलाफ़ ही तलवारें भांजता रहा है – यहां तक कि उसने हमेशा उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन से दूरी बनाये रखी और आज भी, ग़रीबी और बेरोज़गारी जैसे आम लोगों के सवालों से दूरी बना कर रखता है। अपने इस सैन्यवादी राजनीतिक तसव्वुर को बनाये रखने के लिए उसे हिंदुओं को अपने शौर्य का अहसास दिलाते रहने की लगातार ज़रूरत पड़ती रहती है जिसके लिए ऐसे क़िस्से बहुत काम आते हैं।

दरअसल संघ और उसका बिरादराना संगठन हिंदू महासभा 'हिंदू एकता' के अपने अरमान को हासिल करने की धुन में इस क़दर उन्मत्त रहते थे (और हैं) कि वे दलित व अन्य निचली जातियों की बराबरी और समानाधिकार की दावेदारियों से भी तिलमिला उठते थे क्योंकि इससे उन्हें हिंदू एकता ख़तरे में पड़ती दिखायी देती थी।

यह याद रखना बहुत ज़रूरी है, जिसे हम अक्सर भूल जाते हैं, कि 1934 और 1948 के दरमियान गांधीजी की हत्या की पांच बार कोशिशें हुईं जिसके बाद छठी बार 30 जनवरी 1948 को कामयाबी के साथ उनका क़त्ल कर दिया गया। छः बार की उनकी हत्या की कोशिशें और अंत में हत्या *हिंदू आतंकवादियों द्वारा की गयी थी* – और इनका जनक था घृणा और हिंसा का वह विचारतंत्र जिसे हम हिंदुत्व के नाम से जानते हैं। यह भी याद रखना ज़रूरी है कि उनकी हत्या की पहली कोशिश जून 1934 में शूद्र-अतिशूद्र जातियों द्वारा उठायी गयी मंदिर-प्रवेश की मांग के इर्द-गिर्द चल रहे विवाद की पृष्ठभूमि में हुई थी। 1933 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रस ने मद्रास लेजिसलेटिव असेंबली में मंदिर प्रवेश विधेयक पेश किया था। इससे ठीक पहले का घटनाक्रम भी याद रखना होगा जिसके अंत में, गांधीजी के आमरण अनशन के बाद, डॉक्टर आंबेडकर और हिंदू नेताओं के बीच पूना पैक्ट पर दस्तख़त हुए थे। हालांकि गांधीजी के आग्रह के चलते पूना पैक्ट ने अलग निर्वाचक मंडल के प्रावधान को ख़त्म कर दिया था और उसके कारण उन्होंने दलितों से स्थायी दुश्मनी मोल ली थी, यह भी सच है कि दूसरे छोर पर उसने हिंदू आतंकवादियों को भी उनका दुश्मन बना दिया था। आख़िरकार, यह नहीं भूलना चाहिए कि उसी क़रार में प्रांतीय विधायिकाओं में दलितों और आदिवासियों (अनुसूचित जातियों और जनजातियों) के लिए आरक्षण का प्रावधान था जिसने इन हिंदू अतिवादियों को बेहद क्रोधित कर दिया था – और इसके लिए वे गांधीजी को ही ज़िम्मेदार ठहराते थे।

बहरहाल, गोलवालकर पर लौटें। उनके उद्धरण में एक और बात ग़ौरतलब है – एक ऐसी राजनीति जो

सल्तनत व मुग़ल शासन को 'विदेशी' कहते नहीं थकती, उन्हें एक बार के लिए भी उसमें और दक्षिण एशिया के 1400 साल तक फैले हिंदू साम्राज्य का जश्न मनाने में कोई विरोधाभास नहीं दिखायी देता। उसकी तुलना में भारत में 'मुस्लिम' शासन तो 800 साल तक ही था!

हक़ीक़त तो यह है कि गोलवालकर अतीत पर अपनी बीसवीं सदी की सोच थोप रहे हैं। प्राचीन या मध्यकाल में न तो ज़मीन और सीमाओं का ख़याल मौजूद था और न ही 'राष्ट्रीय संप्रभुता' का। और इसीलिए धर्म और संस्कृतियां राष्ट्र-राज्यों की हदों में क़ैद करके नहीं रखी जा सकती थीं जैसे कि हम अपने समय में देखने के आदी हो गये हैं। ऐतिहासिक तौर पर, तमाम दुनिया में शासक वे ही हुआ करते थे जो आक्रमणों के ज़रिये अपने साम्राज्यों का विस्तार करते थे। निस्संदेह, उनकी अपनी धार्मिक संबद्धताएं थीं और अपने एजेंडे भी – मगर यह भी सच है कि दुनिया भर में, धार्मिक तौर पर सबसे ज़्यादा सहिष्णु निज़ाम उस्मानी (ऑटोमान) और मुग़ल साम्राज्य जैसे पूरब के निज़ाम थे जिन्हें गोलवालकर और उनके मुरीद 'मुसलमान' कहेंगे।

आधुनिक दुनिया ने राष्ट्र-राज्य बनाये और क्षेत्रीय अखंडता के आधार पर उन्हें खड़ा किया, जिनका आधार समरस सांस्कृतिक पहचानों वाले 'राष्ट्र' बनाये गये। ज़ाहिर है, ऐसी समरस या हमवार संस्कृतियां कहीं भी पहले से मौजूद नहीं थीं। इन्हें गढ़ा गया और उन्हें गढ़ने के लिए परंपराएं ईजाद की गयीं। लिहाज़ा शुरू हुई 'ख़ालिस', 'अदूषित' और 'पवित्र' राष्ट्रीय संस्कृतियों की एक अंतहीन तलाश जो रुकने का नाम नहीं लेती है और जिसके असरात उपनिवेशित दुनिया के लिए ख़ासे दर्दनाक साबित हुए, क्योंकि उन्होंने उन्हीं यूरोपीय राष्ट्र-राज्यों के सांचे में खुद को ढालना शुरू कर दिया।

'राष्ट्र' और 'राष्ट्र-राज्यों' के ये विचार एक मायने में दुनिया को आधुनिक यूरोप से मिले, यह वह मनहूस तोहफ़ा था जिसे रवींद्रनाथ ठाकुर जैसे हमारे महान चिंतकों ने सिरे से ख़ारिज कर दिया था। उन्होंने उसे इसलिए ख़ारिज कर दिया था क्योंकि उन्हें उसमें एक ऐसा नज़रिया दिखायी दे रहा था जो भारतीय लोकाचार के ख़िलाफ़ भी था और उस उपनिषद्-प्रदत्त ज्ञान के भी विरोध में खड़ा था जिसे वे और विवेकानंद जैसे कई आधुनिक चिंतक हिंदू धर्म और जीवनदृष्टि का निचोड़ मानते थे. रवींद्रनाथ और गांधीजी जैसे कई मनीषियों के लिए हिंदू धर्म का निचोड़ उसके संकुचित कर्मकांडों में नहीं - जिसे विवेकानंद ने भी पुरज़ोर ढंग से ख़ारिज किया था - बल्कि उपनिषदों के सार्वभौमिक दर्शन में था जिसमें सारे धर्मों का सत्य समाया हुआ था. रवींद्रनाथ ठाकुर अगर 'मनुष्य के धर्म' की बात करते थे तो विवेकानंद भी एक ऐसे सार्विक धर्म के इंतज़ार में थे जो 'न सिर्फ हिंदुस्तान के भीतर संघर्षरत संप्रदायों के बीच एक अभूतपूर्व एकता क़ायम करेगा बल्कि हिंदुस्तान के बाहर भी'। रवींद्रनाथ ने रेखांकित किया था कि 'मनुष्य सिर्फ़ उसी को अव्वल के रूप में पहचानता है जिसे हर काल में, तमाम मनुष्यों से स्वीकृति मिली हो... जो अपनी ख़ुद की आत्मा के ज़रिये सभी इंसानों की आत्मा का अनावरण करता है।' वे आगे और रेखांकित करते हैं कि 'भौतिक संपत्ति के प्राचुर्य के बीच में ही हम अक्सर ऐसे खंडहरों की निशानियां देख पाते हैं जब मनुष्य, स्वार्थ और सत्ता के नशे में चूर, शाश्वत मानव (चिरोमानब) के विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है.'

सावरकर और गोलवालकर के ऊपर दिये उद्धरणों में, दोनों में ही हमें ऐसे ही एक आदमी के आविर्भाव का नज़ारा दिखायी देता है जो स्वार्थ और सत्ता के जूनून में पागल है।

अब ज़रा एक बार स्वामी विवेकानंद की इस बात पर ग़ौर करें जो उन्होंने 'वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ़ रिलीजंस' में शिकागो में कही थी : 'मुझे गर्व है कि मैं एक ऐसे धर्म से आता हूं जिसने सारी दुनिया को सहिष्णुता और सार्विक स्वीकृति सिखायी। हम न सिर्फ़ सार्विक सहिष्णुता में यक़ीन रखते हैं बल्कि हम सारे धर्मों को सत्य के रूप में क़ुबूल करते हैं।'

विवेकानंद की भाषा कवि की भाषा से बिलकुल अलग है और ज़मीनी है. अगर ग़ौर से देखें तो पायेंगे

कि हालांकि वे अक्सर राष्ट्र और राष्ट्रवाद की बात करते प्रतीत होते हैं, उनका सरोकार धर्म से है जिसे वे हर हालत में राजनीति से अलग रखना चाहते हैं। ऊपर इस लेख के शुरू में दिये गये उनके कथन में वे धर्म के कट्टरता और पार्टीगत राजनीति में अध:पतन की कड़ी निंदा करते हैं और उसे सिरे से ख़ारिज करते हैं।

हिंदू धर्म और जीवनदृष्टि

घृणा के इस सैन्यवादी और हिंसक 'कल्ट' के बरअक्स हिंदू धर्म के विचारकों ने अपने धर्म को किस तरह व्याख्यायित किया है? आचार्य क्षिति मोहन सेन, जिन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी 'हिंदू' कहे जाने वाली तमाम धाराओं का अध्ययन करने में लगा दी और जीवन का एक अच्छा ख़ासा हिस्सा रवींद्रनाथ ठाकुर के साथ शांतिनिकेतन में गुज़ारा, लिखते हैं :

> ईसाइयत, इस्लाम, या बौद्ध धर्म जैसे दुनिया के अन्य विश्व-धर्मों की तरह हिंदुइज़्म या हिंदू धर्म का कोई एक संस्थापक नहीं था. वह पांच हज़ार सालों के दौरान आहिस्ता आहिस्ता विकसित हुआ - भारत में उपजे तमाम तरह के धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों को जज़्ब करके अपने में समेटते हुए।

दूसरे शब्दों में, वह एक महासागर की तरह है जिसमें कई नदियां, कई धाराएं आकर मिलती हैं. 'पांच हज़ार साल' तो एक अतिशयोक्ति लगती है मगर इसमें क्या शक है कि जिसे आज हम 'हिंदुइज़्म' के नाम से जानते हैं वह सही मायने में 'धर्म' नहीं है जिस अर्थ में उस शब्द को आज हम समझते हैं। यह भी तो जानीमानी बात है कि 'धर्म' 'रिलिजन' का पर्याय नहीं है बल्कि उसके मायने आचार, स्वधर्म, युगधर्म और कई ऐसे अर्थों से मिलकर बनते हैं. जब हम यह कहते हैं कि हिंदुइज़्म या 'हिंदू धर्म' हज़ारों साल के लंबे दौर में इस विशाल भूभाग में पनपे विभिन्न धार्मिक व सांस्कृतिक आंदोलनों के समेटते हुए विकसित हुआ तो इससे हमारी मुराद क्या होती है? क्षिति मोहन सेन रज्जाब नाम के एक कवि-संत का हवाला देकर कहते हैं कि जब यह बात आम हुई कि उन्हें 'रौशनी' मिली है तो बड़ी तादाद में लोग उनके दर्शन करने आने लगे। वे आते और उनसे पूछते कि वे क्या देख और सुन पा रहे हैं? 'उनका जवाब था : 'मैं जीवन की शाश्वत लीला देख रहा हूं। मैं उस लोक की आवाज़ों का गायन सुन रहा हूं। जिसका आकार नहीं है उसे आकार दो, बोलो और अपने आप को व्यक्त करो'। शायद इसी विचार का विवेकानंद सैद्धांतीकरण करते हैं जब वे कहते हैं कि 'किसी भी सिद्धांत या मत पर विश्वास करने या न करने और उनके इर्द-गिर्द संघर्ष हिंदू धर्म नहीं है, बल्कि वह तो सत्य को प्रत्यक्ष करने का नाम है। उसका संबंध विश्वास करने से नहीं बल्कि होने और बनने से है'।

शिकागो में स्वागत भाषण के जवाब में भी विवेकानंद अलग अलग जगहों से, कई अलग अलग स्रोतों से आ रही मुख़्तलिफ़ नदियों के अंततः समंदर में मिल जाने की बात पर ही ज़ोर देते हैं।

समंदर में या महासागर में तमाम तरह के जीव और वनस्पति जीवन एक साथ रहते हैं और ये सब हमेशा एक दूसरे के साथ मिलजुल कर नहीं रहते हैं। उनके बीच संघर्ष और टकराव भी देखने को मिलते हैं मगर चूंकि वह एक ही समंदर है इसलिए तमाम प्राणियों को आख़िरकार एक साथ रहना सीखना पड़ता है।

ऐसा ही उन तौर तरीक़ों, उन अमलों के साथ होता है जो हज़ारों सालों में विकसित हुए हैं। और सभी आधुनिक हिंदू चिंतक व सुधारक इस बात को अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि यह कहना क़ाफ़ी नहीं है कि वेदों और उपनिषदों से लेकर पुराणों और तंत्रों तक सब कुछ एक ही साथ, एक ही तरह से वैध हैं। इनमें आपस में गहन अंदरूनी टकराव और विरोध हैं, मगर एक दूसरे अर्थ में कहा जा सकता है कि इनके बीच एक स्तर पर 'समझदारी का सामान्य क्षितिज' है - ब्रह्मांड और जीवन के बारे में सामान्य मान्यताएं हैं जहां संसार अनादि अनंत है, समय शाश्वत है और एक परम-आत्मा है जिसे कभी ब्रह्मा, कभी प्रजापति तो कभी ब्रह्मा-विष्णु-महेश की त्रिमूर्ति के रूप में जाना जाता है या बाद में ईश्वर के रूप में। कभी कभी बाउल परंपरा की तरह उसे सिर्फ़ 'मोनेर मानुष' या दिल

में रहने वाला इंसान कहा जाता है।

मगर 'हिंदू धर्म' के इस विशाल सागर में हमेशा लोकायत या चार्वाक जैसी नास्तिक धाराएं भी हुआ करती थीं जो वेदों की ऑथोरिटी को तो नकारती थीं ही, अनश्वर आत्मा की धारणा को भी ख़ारिज करती थीं। मगर प्राचीन काल से ही भारत नाम के इस महा-समंदर का निर्माण सिर्फ़ उन धाराओं से नहीं हुआ जिन्हें हम आज हिंदू धर्म कहते हैं बल्कि उसके बनने में बौद्ध, जैन व आजीविकों जैसी श्रमण धाराओं का भी भरपूर योगदान रहा है।

और फिर बाद में इस्लाम और ईसाइयत का आगमन होता है - हालांकि हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि सेंट टॉमस ख़ुद हिंदुस्तान आने वाले पहले ईसाई थे जो ईसाई कलेंडर के सन् 52 में केरल आये थे। इसी तरह अरबों के साथ व्यापर के ज़रिये हमारे रिश्ते और कई सदियों पीछे जाते हैं - इस्लाम के उदय से भी पहले।

इसीलिए स्वामी विवेकानंद इतनी आसानी से कह पाते हैं कि 'आर्य, द्रविड़, टार्टर, तुर्क, मुग़ल, यूरोपीय— दुनिया के सभी राष्ट्र यहां आये हैं और इस ज़मीन में अपना ख़ून दे गये हैं.' ('द फ़्यूचर ऑफ़ इंडिया') क्या यह महज़ इत्तफ़ाक़ है कि उनका यह कथन उनके सौ साल से भी ज़्यादा बाद में लिख रहे उर्दू शायर राहत इंदौरी के 'सभी का खून है शामिल इस मिटटी में' के साथ लगभग हूबहू मिल जाता है? यक़ीनन इन दोनों के पीछे एक समान इथोस, एक मुश्तरका जज़्बा है जो हम सबकी विरासत है - हम जो इस ज़मीन के बाशिंदे हैं।

विदेशी कौन है?

आरएसएस और हिंदुत्व वालों को लगातार अपने मतलब का मनगढ़ंत छद्म-इतिहास पैदा करने और उसे सच कह कर प्रचारित करने में महारत हासिल है और यह काम वे पिछले सौ सालों से किये जा रहे हैं। उन्हें अपने इस काम में अक्सर इस बात से मदद मिल जाती है कि हम में से अधिकांश लोग अपने सुदूर अतीत के बारे में जानने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते।

दुनिया भर में कहीं भी देखें तो पायेंगे कि जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं वह हर जगह कई तरह के प्रभावों और अवयवों से मिलकर बनती है - और उनका एक साथ आना कई कारणों से हो सकता है - हिंसक आक्रमण, शांतिपूर्ण व्यापार, समूचे समुदायों के एक जगह से दूसरी जगह प्रवसन, अंतर-सामुदायिक विवाह वग़ैरह। लिहाज़ा, ऐसा कुछ भी नहीं मिल सकता है जिसके बारे में हम यह दावा कर सकें कि वह ख़ालिस भारतीय है - वेद भी नहीं।

सिंधु घाटी सभ्यता का एक बहुत बड़ा हिस्सा - जिसकी खोज 1920 में हुई थी - दरअसल आज के पाकिस्तान, कश्मीर, उत्तर-पश्चिम भारत और गुजरात के कुछ इलाक़ों तक फैला हुआ था और हम उस सभ्यता के लोगों के धर्म के बारे में बहुत कम ही जानते हैं. हाल के सालों की खुदाई से पता चलता है कि उसका विस्तार शायद आज के हरियाणा के हिसार जिले तक था। मगर कुल मिलाकर उस सभ्यता के बारे में हम आज भी बहुत काम जानते हैं - उतना भी नहीं जितना वैदिक लोगों के बारे में जानते हैं। मगर उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है - हिंदुत्व के ख़याली पुलाव तो तभी से पकने शुरू हो गये थे। दोनों के बीच के रिश्तों के बारे में वे इस तरह बात करते पाये जाते हैं गोया संघी ही इन दोनों के वारिस हों। हक़ीक़त यह है कि दोनों के बारे में हमारा ज्ञान बर्तानवी हुकूमत के दौर में हुए शोध और खुदाई से ही सामने आया है, मगर शोधकर्त्ता भी जो नहीं जानते उसे हिंदुत्व के खिचड़ी-पुलाव पकने वाले आपको बताते नज़र आयेंगे।

तो क्या वैदिक सभ्यता का उदय सिंधु घाटी सभ्यता से हुआ था? क्या दोनों में कोई रिश्ता था? ऐसा लगता नहीं है। इस संदर्भ में दो बातें ख़ास तौर पर ग़ौरतलब हैं।

पहली, वेदों में घोड़ों की ख़ासी अहमियत है और अश्वमेध यज्ञ से लेकर घोड़ों द्वारा चालित रथों का उनमें अक्सर ज़िक्र आता है। घोड़ों की 27 पसलियां होती हैं जबकि हड़प्पा से मिले तमाम पुरातात्विक सुबूतों /

कलाकृतियों में हमें 26 पसलियों वाले जंगली गधों के ही सुराग मिलते हैं। न तो वहां घोड़ों की हड्डियां मिली हैं न उनके चित्र, न ही घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथों के खिलौने। मिलते हैं तो बैल गाड़ियों के सुराग जिनमें ठोस पहिये देखने को मिलते हैं। ग़ौरतलब है कि वेदों में रथों के हवाले कई बार आते हैं और इनके पहिये 'स्पोक' वाले होते हैं, ठोस नहीं.

दूसरी अहम बात यह है कि वैदिक साहित्य में घुमंतू आबादियों के ही संदर्भ मिलते हैं और रहने व पूजा की किन्हीं तय जगहों के ज़िक्र नहीं मिलते, जबकि हड़प्पा की सभ्यता एक शहरी सभ्यता थी और वहां बसी हुई खेती के भी कुछ हवाले मिलते हैं।

इस सब से इतना भर कहा जा सकता है कि जो लोग वेदों और वैदिक भाषा लेकर भारत आये वे भारत के मूल निवासी तो क़त्तई नहीं थे। इस संदर्भ में एक और दिलचस्प खोज का ज़िक्र ज़रूरी है।

ईसापूर्व 1380 के आसपास का एक शिलालेख एक संधि का ज़िक्र करता है जिसमें तीन वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। ये तीन देवता हैं : इंद्र, मित्र और वरुण। मगर दिलचस्प बात यह है कि यह शिलालेख जिस संधि का उल्लेख करता है वह एशिया माइनर (अर्थात आज के तुर्की के कुछ हिस्सों) के हिट्टीय राजा और एक मितन्नी राजा के बीच हुई थी जिसका क्षेत्र वर्त्तमान सीरिया से इराक़ तक फैला हुआ था। इससे एक बात का तो पता चलता है और वह यह कि वैदिक संस्कृति का भौगोलिक इलाक़ा बहुत विस्तृत था और वह मूलतः आज के भारत की उपज नहीं था। वैदिक भाषा का भी उन क्षेत्रों के भाषाओँ से क़ाफ़ी नज़दीक़ी रिश्ता था जो बाद की संस्कृत की पूर्वज कही जा सकती है। लिहाज़ा संस्कृत का भी उद्भव ख़ालिस 'भारतीय' नहीं है।

तो फिर इस सब के मानी क्या हुए? एक, इस से हमें पता चलता है कि वेदों के लिखे जाने से पहले वैदिक देवी देवताओं और उनसे जो ज्ञान हमें मिलता है वह एक बहुत बड़े और विस्तृत भौगोलिक भूभाग के 'ओरल कल्चर' का हिस्सा था। यह भूभाग आज के ईरान, सीरिया, इराक़ और तुर्की तक को अपने में समेटे हुए था।

दो, यह तो शायद साफ़ है कि वेदों का लिखा जाना (और उस अर्थ में उनकी रचना) हिंदुस्तान में ही हुई, मगर ऐसा ज़रूर लगता है कि वह केंद्रीय और पश्चिमी एशिया से आयी एक विशेष आबादी के साथ ही यहां आये। आज की तारीख़ में यह कहना मुश्किल है कि इस माइग्रेशन के ज़रिये आयी आबादी की संख्या कितनी बड़ी थी, मगर इतना तो लगता है कि उसके यहां बस जाने से एक अलग अध्याय की शुरुआत होती है।

तीन, वर्त्तमान हिंदुस्तान और पाकिस्तान में बसने वाले लोग वैदिक जन के आने के बहुत पहले से यहां रहते आये थे, मगर आख़िरकार उन्हीं लोगों ने वेदों और वैदिक भाषा को अपनाया - और वही भाषा आगे जाकर संस्कृत बनी।

लिहाज़ा, यह अब स्पष्ट हो जाना चाहिए कि न तो 'वेद' नाम से जाने जाने वाले ग्रंथों का ज्ञान और न ही सिंधु घाटी सभ्यता - हड़प्पा व मोहनजोदड़ो - उस अर्थ में 'भारतीय' हैं जिस अर्थ में हम आज 'भारतीय' को मौजूदा राष्ट्र-राज्य से जोड़ते है।

इस भूखंड की भाषा, संस्कृति और धर्म उस ज़माने से कई हज़ार सालों का लंबा सफ़र तय कर के एक ऐसे मुक़ाम पर पहुंची जहां 12 वीं से 16 वीं सदी के दरमियान जाकर ही विचारकों का एक छोटा सा गुट अपने आप को 'हिंदू' के रूप में देखने लगा - हालांकि तब धार्मिक पहचान का अर्थ नहीं था, एक धार्मिक समुदाय के विवरण के रूप में, जिस अर्थ में हम इसे आज समझते हैं, इस पद का चलन 19 वीं सदी में जाकर ही आम होता है जब बर्तानवी सरकार द्वारा आदमशुमारियों में 'हिंदू' को व्यापक धार्मिक अर्थों में परिभाषित किया जाने लगा। मान्यताओं और अमलों का एक समंदर जो 'ऑर्गैनिक' ढंग से हज़ारों सालों से विकसित हुआ था और जिसका श्री रामकृष्ण ने, अपने आदर्श के रूप में, 'जितने मत उतने पथ' कहकर निरूपण किया था, उसे अब सरकार चलाने की ज़रूरतों के

अधीन कर लिया गया। इसके बाद बहुत जल्द ही वह राजनीति और राजनीतिक लामबंदी का हिस्सा भी बन गया।

आज अचानक संघ द्वारा पैदा किया गया एक नया फ़ितूर चारों तरफ़ ज़ोर मार रहा है जिसके तहत हर जगह 'विदेशियों' और 'घुसपैठियों' की तलाश शुरू हो गयी है। नागरिकता संशोधन क़ानून (सी ए ए) के पारित होने के साथ साथ राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर और राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर की जो क़वायद नये सिरे से शुरू की गयी है उसके तहत यह कोशिश की जा रही है कि हमारे देश की आबादी के एक बड़े हिस्से को 'विदेशी' घोषित कर दिया जाये। दुनिया को देखने के आरएसएस और हिंदुत्व के तरीक़े के मुताबिक़ सभी मुसलमान विदेशी हैं। हालांकि कहने भर के लिए संघ यह क़ुबूल करता है कि अधिकांश मुसलमान भारतीय हैं, उसके राजनीतिक खेल में सभी मुसलमान बुनियादी तौर पर संदिग्ध हो जाते हैं। संघ के इस कुप्रचार को बेनक़ाब करने के लिए शायद एक बार फिर हमें स्वामी विवेकानंद की मदद की ज़रूरत होगी जो बड़ी साफ़गोई से हमें आक्रमणकारी शासक और उस अवाम का फ़र्क़ समझाते हैं जिन्होंने इस्लाम अपनाया था। चूंकि आरएसएस को हिंदू धर्म को सिर्फ़ अपने राजनीतिक मक़सद के लिए इस्तेमाल करना होता है इसलिए उसे मामले के सच और झूठ से कोई मतलब नहीं होता, मगर विवेकानंद जैसे धर्मगुरु के लिए उससे कन्नी काटना संभव नहीं है। इसीलिए वे इस परिघटना को हिंदू समाज की अंदरूनी समस्याओं, उसमें मौजूद दर्जाबंदियों ('हायरार्की') और जाति-उत्पीड़न के ढांचों से जोड़ते हैं। उनके अपने शब्दों में :

> ख़ुसूसी विशेषाधिकार (एक्सक्लूसिव प्रिविलेज) और ख़ुसूसी दावों के दिन अब लद गये हैं, भारत की ज़मीन से हमेशा के लिए रुख़्सत हो गये हैं... भारत में बरतानवी हुकूमत की कुछ बरकतों में से यह भी एक है। और हम इस बरकत के लिए मोहम्मदन शासन के भी कर्ज़दार हैं, इस ख़ुसूसी विशेषाधिकार के ख़ात्मे के लिए... दबे-कुचले और ग़रीब लोगों के लिए भारत पर मुसलमान आक्रमण मुक्ति की तरह आया था। इसीलिए हमारे लोगों का पांचवां हिस्सा मुसलमान बन गया। यह सब तलवार की ताक़त पर नहीं हासिल किया गया। यह सोचना कि यह सब सिर्फ़ तलवार और हथियारों के बूते पर हुआ पागलपन की हद होगी।

हमारी आबादी का पांच में से एक हिस्सा मुसलमान इसलिए बन गया क्योंकि वह बहिष्कृत था, दबा-कुचला और ग़रीब था - इसलिए नहीं कि उसे ज़बरन मुसलमान बनाया गया। याद रखें कि हिंदू समाज में तो वे भगवान या ईश्वर के सामने भी बराबर नहीं थे - उन्होंने मंदिरों में दाखिल होने की बहुत कोशिशें कीं और विफल हुए। स्वामी दयानंद सरस्वती और महात्मा गांधी से लेकर डॉक्टर आंबेडकर तक आधुनिक भारत के न जाने कितने ही नेताओं और विचारकों ने रूढ़िवादी हिंदू समाज में सुधार लाने की अनगिनत कोशिशें कीं, मगर सब नाकाम रहे।

और अगर वे - अतिशूद्र, अछूत, पंचम या परया - ईश्वर के सामने बराबर न हो सके तो उसके भक्तों के आगे कैसे हो सकते थे? उन्हें तो गांवों के सामूहिक कुएं से पानी लेने की इजाज़त भी नहीं थी। ऐसे ही रोज़ाना के सदियों से चले आ रहे तजुर्बों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद करते हुए डॉक्टर आंबेडकर ने महाड सत्याग्रह कर के उन्हीं दिनों उद्घाटित नगर पालिका द्वारा बनाये गये एक कुएं से पानी पिया - और उसके बाद ही उन्हें भी समझ में आ गया कि इन रूढ़िवादियों का सुधार असंभव है। तभी उन्होंने फ़ैसला कर लिया था कि बेशक वे जन्म से हिंदू रहे हों मगर हिंदू के रूप में नहीं मरेंगे। उनके सत्याग्रह के फ़ौरन बाद की इस रपट को ग़ौर से पढ़ें :

> इस घटना के दो घंटों बाद कुछ शैतान क़िस्म के ऊंची जातियों के लोगों ने यह अफ़वाह फैलानी शुरू कर दी कि अछूत लोग अब ज़बरन वीरेश्वर मंदिर में घुसने की योजना बना रहे हैं। और इसी के साथ साथ बांस और लाठियां लिये हुए एक भीड़ सड़कों और नुक्कड़ों पर जमा होने लगी। महाड की पूरी रूढ़िवादी आबादी जैसे उठ खड़ी हुई और थोड़ी ही देर में सारा शहर दंगाइयों की उमड़ती हुई भीड़ में तब्दील हो गया। उन्होंने कहना शुरू किया कि उनका धर्म ख़तरे में है, और हैरत की बात तो यह कि उन्होंने यह भी कहना शुरू किया कि उनका भगवान पर भी प्रदूषित होने का ख़तरा आन पड़ा है।

इसे पढ़ते हुए मुमकिन है हाल के सालों के कई दृश्य आपके भी मन में भी उमड़ आये हों जहां पहले अफ़वाहों का बाज़ार गर्म किया जाता है और किसी करिश्माई अंतर्दृष्टि से यह पता लगा लिया जाता है कि किस के फ्रिज में क्या रखा है, और उसके बाद यकायक शोहदों और गुंडों की एक हमलावर भीड़ इकट्ठा हो जाती है - और हमला करती है। यह सब अपने आप, स्वतःस्फूर्त ढंग से नहीं होता है, मगर यह फ़िलहाल हमारी चर्चा का विषय नहीं है। बहरहाल, डॉक्टर आंबेडकर ने आख़िरकार बौद्ध धर्म अपना लिया। इतना याद रखना ज़रूरी है कि 19 वीं और 20 वीं सदी में हिंदू समाज में जितने भी सुधारक और चिंतक हुए जो धर्म को लेकर गंभीर थे, उन सभी ने छुआछूत और जाति-उत्पीड़न के अन्याय को रेखांकित किया और उसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठायी थी।

अगर हम गुजरात के ऊना शहर में 2016 में हुई चार दलित नौजवानों की बेरहम पिटाई की घटना को या फिर हाल ही में उत्तर प्रदेश के हाथरस में एक दलित लड़की के गैंगरेप की घटना को याद करें जो दोनों ही भारतीय जनता पार्टी शासित राज्यों में हुई तो यह समझने में दिक़्क़त नहीं होनी चाहिए कि वह और आरएसएस कहां और किसके साथ खड़ा है। ऐसा नहीं है कि और राज्यों में दलितों पर अत्याचार नहीं होते, मगर इन राज्यों की ख़ास बात यह है कि इनमें इन अत्याचारों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करना तो दूर, उनके विरोध में उठने वाली आवाज़ों को चरम घृणा और बर्बरता से दबा दिया जाता है। इसी से पता चल जाना चाहिए कि ये किन ताक़तों की नुमाइंदगी करते हैं।

हमें यह हमेशा याद रखना चाहिए कि संघ और भाजपा की हिंदू धर्म और जीवनदृष्टि आदि में कोई दिलचस्पी नहीं है। उनकी कोशिश बस यह है कि वे किसी भी तरह हिंदुओं को डरे हुए और कट्टर समुदाय में तब्दील कर दें ताकि अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करने के लिए उनका इस्तेमाल किया जा सके। धर्म के ऐसे ही नापाक इस्तेमाल के ख़िलाफ़ स्वामी विवेकानंद और रवींद्रनाथ ठाकुर हमें हमेशा आगाह किया करते थे।

मो. 9871406520

मुक्ति का संश्लिष्ट विमर्श : दलित-वाम साझेदारी

बजरंग बिहारी तिवारी

क्रांतिकारी आह्वान 'दुनिया के मज़दूरों एक हो' जब भारत पहुंचा तो इसका महत्त्व पहले उन लोगों ने समझा जो मज़दूरों के शोषण पर फल-फूल रहे थे। महत्त्व उन्होंने भी समझा जो इस शोषण का अंत करना चाहते थे। मज़दूरों की पहली राजनीतिक पार्टी 'स्वतंत्र मज़दूर दल' (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) डॉ. आंबेडकर ने 1936 में बनायी। डॉ. आंबेडकर आम श्रमिकों के मुद्दों को लेकर चुनाव मैदान में आये और उनके दल को अच्छी सफलता भी मिली। यह सिलसिला आगे बढ़ता तो परिदृश्य कुछ और ही होता। इसे रोकने के लिए सारी ताक़तें एक हो गयीं। थोड़े ही अंतराल बाद मार्च 1942 में क्रिप्स मिशन भारत आया। स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स के नेतृत्व वाला यह कैबिनेट मिशन मात्र धार्मिक या जातीय प्रतिनिधियों को ही मान्यता दे रहा था। यह उन्हीं से बात करने को अधिकृत था। 'मज़दूर' तो एक आर्थिक-राजनीतिक श्रेणी है, लिहाजा स्वतंत्र मज़दूर दल के प्रतिनिधि के रूप में डॉ. आंबेडकर इस मिशन से नहीं मिल सकते थे। नतीजतन उन्हें शिड्यूल कास्ट फ़ेडरेशन बनाना पड़ा। वे 'अछूतों' के प्रतिनिधि के रूप में ही औपनिवेशिक सत्ता को स्वीकार्य हुए। इस तथ्य की तरफ़ डॉ. आंबेडकर ने एकाधिक बार इशारा किया था कि भारत में सभी मज़दूर एक जैसे नहीं हैं। उनमें कई तरह के भेद-प्रभेद हैं। जाति के आधार पर भेदभाव प्रमुख है। इसके बावजूद उन्होंने मज़दूरों को एक श्रेणी में रखा और किसिम-किसिम की सामाजिक पृष्ठभूमि वाले मज़दूरों के हितों के साझेपन को समझा। क्या मज़दूर-मज़दूर में फ़र्क़ की बात दुनिया के मज़दूरों को एक होने का नारा देने वाले नहीं जानते थे? उन्हें यह भी मालूम था कि दुनिया के पूंजीपति भी एक जैसे नहीं हैं, लेकिन वे अपने साझे हितों को समझते हैं और अपने बीच मज़बूत एकता बनाये रखते हैं। इस एका से उनका वर्चस्व क़ायम रहता है। इस वर्चस्व को तोड़ना है तो मज़दूरों को अपनी एकता की शक्ति को, उसके नतीजों को पहचानना होगा। वर्चस्ववादियों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। उन्होंने श्रमिकों के हितों के साझेपन को धुंधला करने की भरसक कोशिश की। उनके बीच के अंतर को रंगरोगन लगाकर, ख़ूब चटक बनाकर पेश किया। बनती हुई एकता को तोड़ने में जातितंत्र ने भरसक योगदान दिया। डॉ. आंबेडकर ने मज़दूरों से और श्रम से जुड़े मुद्दों पर राजनीति करने वाले वामपंथ से सदैव संवाद बनाये रखा। उनके बाद दरार चौड़ी होती चली गयी। जाति की राजनीति और वर्गाधारित आंदोलन करने वालों में यद्यपि मैत्रीपूर्ण संवाद बनाये रखने में कॉ. आर.बी. मोरे, अन्ना भाऊ साठे, अमर शेख़ जैसे कई विचारकों/आंदोलनकर्मियों ने सराहनीय प्रयास किया लेकिन दोनों के मध्य बढ़ती कटुता ख़त्म नहीं की जा सकी। स्वतंत्र भारत की सरकारें, दक्षिणपंथी ताक़तें, देशी पूंजीपति और कैपिटलिस्ट सत्तातंत्र ने एकता की इस संभावना को तोड़ने में अनवरत काम किया। दोनों की बेध्यानी और आत्ममुग्धता ने एकता के विरोधियों की मंशा को सफल होने दिया। रिपब्लिकन पार्टी के नेतृत्व ने वामपंथ को निशाने पर रखा और 1984 में बनी बसपा ने उसे पहले नंबर का शत्रु माना। बीच में उभरे दलित पैंथर आंदोलन ने बेशक दोनों के बीच पुल बनाने की चेष्टा की लेकिन जल्दी ही वहां भी वामविरोधी गुट प्रबल हुआ और पारस्परिकता के पक्षधर हाशिये पर ठेल दिये गये। आज हालत देखिए। दलित राजनीति करने वाले आरपीआइ, लोजपा और बसपा कहां हैं! उधर दलितों पर होने वाली हिंसा का ग्राफ़ कितना ऊपर गया है! मेहनतकश तबक़ों, ख़ासकर दलित समुदाय की आर्थिक बदहाली किस सूचकांक पर टिमटिमा रही है! इस दुर्दिन से कैसे छुटकारा मिलेगा? जो अस्मितावादी कल तक राष्ट्रीय परिसंपत्तियों को निजी हाथों में दिये जाने

की पैरोकारी कर रहे थे वे क्या आज (जबकि अधिकांश सार्वजनिक उपक्रम या तो बिक चुके हैं या बेचे जाने की कगार पर हैं) अपनी राय बदलने को तैयार हैं?

वाम और दलित साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों का एक दूरंदेशी समूह हमेशा साझे मोर्चे के पक्ष में रहा। सत्ता, समाज और शासन पर दक्षिणपंथ की पकड़ मज़बूत होते जाने के साथ इस साझे मोर्चे का महत्त्व समझ में आता गया। नरेंद्र अच्युत दाभोलकर (1945-2013) और गोविंद पानसरे (1933-2015) की हत्या ने जिस ज़रूरत का अहसास घना किया उसे डॉ. एम.एम. कलबुर्गी (1938-2015) की हत्या ने अपरिहार्य बना दिया। डॉ. कलबुर्गी की हत्या का विरोध-प्रदर्शन संयुक्त रूप से हुआ। एक साझा मोर्चा बना जिसमें वाम और दलित लेखक संगठन थे। रोहित वेमुला (1989-2016) की सांस्थानिक हत्या (आत्महत्या) ने पूरे देश में विक्षोभ पैदा किया। छात्रों ने साझेपन की ज़बर्दस्त पैरोकारी की। विश्वविद्यालय परिसरों से न्याय की, प्रेम की और आततायी सत्ता के विरुद्ध एकजुट होने की बुलंद आवाज़ उठी। इसके बाद प्रगतिशील पत्रकार व लेखिका गौरी लंकेश (1962-2017) की हत्या के ख़िलाफ़ प्रगतिवादियों और आंबेडकरवादियों का साझा मंच किंचित अधिक मज़बूती से आगे बढ़ा। कांचा इलैया के ऊपर हुए हमले का विरोध भी संयुक्त रूप से हुआ। इस दौरान साझेपन की ज़रूरत को समझने और उसके वैचारिक आधार को मज़बूती देने के लिए जनवादी लेखक संघ ने तीन-तीन दिवसीय तीन कार्यशालाएं आयोजित कीं : बांदा कार्यशाला (2015), इलाहाबाद कार्यशाला (2016) तथा जयपुर कार्यशाला (2018)। इनमें क्रमशः 'आंबेडकरवाद और मार्क्सवाद की पारस्परिकता', 'जाति, वर्ग और जेंडर का अंतस्संबंध' व 'रचना-प्रक्रिया तथा विचारधारा' पर विमर्श हुआ। संगठनों के साझे मोर्चे जिसमें जसम, दलेस, जलेस और प्रलेस शामिल थे, के संयुक्त कार्यक्रम होने आरंभ हुए। ये कार्यक्रम प्रतिरोध सभाओं, परिसंवादों व विचार-गोष्ठियों के रूप में दिखायी पड़े। ‘देशप्रेम के मायने’ नामक गोष्ठी-सीरीज़ बड़ी सफल रही। ‘प्रगतिशील आंदोलन की विरासत’, ‘दलित आंदोलन : साहित्य और कलाएं’ तथा ‘हम देखेंगे’ जैसे चर्चित कार्यक्रम संयुक्त बैनर के तले हुए। इप्टा, प्रतिरोध का सिनेमा तथा अन्य समान सोच वाले संगठन समय-समय पर संयुक्त मोर्चे में शामिल होते रहे। ‘प्रगतिशील आंदोलन की विरासत’ कार्यक्रम से 'न्यू सोशलिस्ट इनिशिएटिव' और उसके बाद हाथरस बलात्कार-हत्याकांड पर हुए प्रतिरोध कार्यक्रम से 'अखिल भारतीय दलित लेखिका मंच' संयुक्त मोर्चे में मज़बूती से शामिल हुए। नवंबर-दिसंबर 2020 से संयुक्त मोर्चा किसान आंदोलन से जुड़कर कार्यक्रम कर रहा है।

अपने लेखों और व्याख्यानों में डॉ. तुलसीराम इस बात पर ध्यान दिलाते रहे कि जाति के आधार पर राजनीति करने वाले तथा क्षेत्राधारित राजनीतिक दल संविधानविरोधी सांप्रदायिक बाढ़ को रोक नहीं सकेंगे और अंततः हिंदुत्व के सहयोगी बनेंगे। समय ने उनकी बात को सच साबित किया। अपनी नयी किताब, *आरएसएस और बहुजन चिंतन* (फ़ॉरवर्ड प्रेस, नयी दिल्ली, 2019) में कंवल भारती ने संघ के दलित प्रेम और आंबेडकर अनुराग का दस्तावेज़ी खुलासा करते हुए यह भी लिखा है कि संघ की असल दुश्मनी किससे है : 'आरएसएस मूलतः कम्युनिस्टविरोधी है। उसकी मुख्य शत्रुता अगर किसी से है तो वह कम्युनिज़्म से ही है।' (पृ.198) दक्षिणपंथ की ओर झुकी हुई जाति आधारित राजनीति को नकारते हुए उक्त किताब के अंतिम अनुच्छेद में वे लिखते हैं : 'बौद्ध धर्म में उनके (बाबा साहब डॉ. आंबेडकर के) धर्मांतरण के बाद भी स्थितियां बदली नहीं हैं। वे आज जीवित होते तो इस बात को ज़रूर अनुभव करते कि बौद्ध भारत में भी जाति, ग़रीबी और शोषण के सवाल बने हुए हैं और समाजवादी शक्तियां भी इन सवालों की उपेक्षा करके जातिवाद और धर्म की ही पूंजीवादी राजनीति कर रही हैं। इसलिए, भारत को आरएसएस और धर्म की जोंकों से निजात दिलाने का कम्युनिज़्म के सिवाय कोई रास्ता नहीं है।' (पृ.199)

कवियों में जय प्रकाश लीलवान ने साझेपन का महत्त्व सबसे पहले और सबसे ज़्यादा समझा। *नये*

क्षितिजों की ओर (भारतीय दलित अध्ययन संस्थान, नयी दिल्ली, 2009) संग्रह में उन्होंने संविधान और लोकतंत्र पर मंडरा रहे ख़तरे को पहचाना। इशारों-इशारों में उन्होंने कहा कि 'क़त्ल होते रहे कामरेडों' को देखकर 'एक नये इंक़लाब की शक्ल/ तुम्हें ही/ तराशनी होगी' (पृ. 71)। इसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, 'समय/ अब कभी भी/ ले सकता है/ हमारे/ संगठित युद्ध के/ लाल सलाम।।' (पृ. 97)। उसी वर्ष प्रकाशित अपने अगले संग्रह, *समय की आदमख़ोर धुन* (भारतीय दलित अध्ययन संस्थान, नयी दिल्ली, 2009) में लीलवान ने शत्रु की ताक़त और तैयारी का मापन करते हुए संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए खुला आह्वान किया, 'आओ कॉमरेड/ कि हम आज/ शत्रु के/ उत्तेजित संवादों का सधा हुआ प्रत्युत्तर देने को/ अपनी ऐतिहासिक/ अटूट एकता के/ संगठन में ढल जायें।।' कवि को उन दुश्वारियों का ज्ञान है जो इस एकता को न महसूस होने देंगी और न संभव होने देंगी। निजीकरण से मालामाल होने जा रही शक्तियां अपने निवेश का एक हिस्सा इस एकता को तोड़ने में लगाना तय कर चुकी थीं। वे कम्युनिस्टों को 'हरी घास में हरा सांप' साबित करवाने में जुटी हुई थीं। जो कम्युनिज़्म का जितना विरोधी वह कॉरपोरेट का उतना ही निकट सहयोगी और फ़र्ज़ी 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का उतना अंतरंग मददगार। तर्क दिया गया कि जब राष्ट्रीय परिसंपत्तियों का निजीकरण हो जायेगा तब पारंपरिक जाति वर्चस्व भी टूट जायेगा और दलित खुली हवा में सांस लेने लगेंगे। रचनाकार शरण कुमार लिंबाले से लेकर विमर्शकार चंद्रभान प्रसाद तक सब इस तर्क के मुरीद हो गये और इसका प्रचार करने में जुट गये। यह वही समय था जब लोकतंत्र के चौथे खंभे पर कॉरपोरेट ने कब्ज़ा किया और उसे 'न्यू नॉर्मल' निर्मित करने की ज़िम्मेदारी सौंप दी। इस तरह कॉरपोरेट चाकर बनी सरकार की अगवानी का पुख़्ता इंतज़ाम किया गया। जनता के एक हिस्से को राष्ट्रवादी धुन में सराबोर किया जाने लगा और एक हिस्से को जातितंत्र तोड़ने के कॉरपोरेट के फ़ॉर्मूले में यक़ीन दिलाया जाने लगा। इस शोर में सावधान करने वाली विवेकशील जनपक्षधर आवाज़ें दब गयीं या दबा दी गयीं। अब ऊंची आवाज़ में बोलने का वक़्त था। जय प्रकाश लीलवान ने ऐसे समय अत्यंत महत्त्वपूर्ण सुदीर्घ कविता लिखी, 'समय की आदमखोर धुन'। यह कविता संकट को समग्रता में पहचानती हुई मौक़ापरस्त, समझौतापरस्त 'अपने' राजनेताओं से मिली नाउम्मीदियों का उल्लेख करती है :

> समय अब
> हमारे साथ नहीं चलता – कॉमरेड
> शायद इसलिए
> कि हमारे हो सकने वाले
> रहनुमा भी
> आजकल अमीरों के आयोजनों में
> बची रह गयी
> जूठन खाने के लिए
> सरेआम आने-जाने लग गये हैं
> और इसीलिए
> पतन के इस पुष्प का नज़ारा
> हमारे इस
> सबसे प्यारे देश की
> आंखों की बीमारी बढ़ा रहा है। (पृ.67-8)

दावेदार रहनुमाओं से मिल रहा धोखा यह संकेत दे रहा था कि वर्चस्ववादियों, वेदवादियों और भेदवादियों की तैयारी कैसी है और उनका शिकंजा कितना तगड़ा है। जबकि 'अपने' नेताओं के प्रति अस्मितावादी कविजन सिरे से अनालोचनात्मक बने हुए थे, लीलवान जैसे कवि उनकी शिफ़्टिंग देख रहे थे, आलोचना कर रहे थे और व्यापक

जनता व उनके हितचिंतकों को आगाह कर रहे थे :

कॉमरेड, हमारे देश के लोग
आज के ग्लोब में
एशिया की पूंछ से बांधकर
हिंदू-महासागर में
लटका दिये गये हैं
और जिनके होने की ख़बर
केवल उनके
रोने से ही पता चलती है
ऐसे में
इन डूबते मस्तूलों को
तुम्हारे सिवाय
और कौन संभालने आयेगा – कॉमरेड।। (पृ. 69)

यह कहते हुए तकलीफ़ हो रही है कि समय रहते न लीलवान की कविताओं पर ढंग की चर्चा हुई और न उनके भरोसे की ठीक से जांच-परख की गयी। उनका विश्लेषण अनदेखा रह गया। उनकी अपील अनसुनी चली गयी : 'आओ कॉमरेड/ कि हम आज/ शत्रु के/ उत्तेजित संवादों का/ सधा हुआ प्रत्युत्तर देने को/ अपनी ऐतिहासिक/ अटूट एकता के/ संगठन में ढल जायें।।' (पृ. 63)

पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद के गठजोड़ को समय से देख सकने वाले दूसरे कवि हैं आर.डी. आनंद। आर.डी. आनंद की वैचारिकी और रचनाधर्मिता पर भी प्रायः चुप्पी साधी गयी है। अस्मितावादी टिप्पणीकार ऐसे कवियों को 'अपना' नहीं मानते और प्रगतिवादी समीक्षक मात्र जाति-विमर्श करने वाले रचनाकारों को प्राथमिकता में ऊपर रखते हैं। परिणाम यह निकलता है कि मुक्ति का संश्लिष्ट विमर्श रचने वाले रचनाकार चर्चा के केंद्र में नहीं आ पाते। आर.डी. आनंद के कविता संग्रह, *फूल ज़रूर खिलेंगे* (विचारभूमि प्रकाशन, बेनीगंज, फ़ैज़ाबाद, 2015) में उनकी प्रारंभिक दौर 1985-87 के मध्य लिखी गयी कविताएं शामिल हैं। संग्रह की पहली कविता (जो आनंद की पहली कविता भी है) 'मुक्ति मार्ग' का आरंभ इन पंक्तियों से होता है :

यही एक रास्ता होगा
जो यथार्थों को आगे बढ़ायेगा
और आगे बढ़ा तो
इसी रास्ते पर
जो है तुम्हारा अपना
साम्यवाद
मार्क्स का रास्ता
जो सपनों को संजोयेगा
दुपहरी में
फूल खिलेंगे
अगर तुम चेतना से
अपना रास्ता संभालोगे
यही एक अच्छा क़दम होगा (पृ.35)

आनंद ने यह कविता 20-21 वर्ष की उम्र में लिखी थी। दलित पृष्ठभूमि से एक उदीयमान कवि की दिशा इस तरह

तय हो रही है। 'फूल ज़रूर खिलेंगे' संग्रह की कविताएं कवि के व्यापक सरोकारों की साक्षी हैं। संग्रह की सुविस्तृत भूमिका में कवि ने आत्मवृत्त के रूप में अपने निर्माण का ब्योरा दिया है। संग्रह की कविताओं में मज़दूरों, बटाईदारों, हलवाहों, किसानों, स्त्रियों और दलितों की ज़िदगी की विविध छवियां दिखायी देती हैं। कविताओं की बुनावट में हड़बड़ी या कच्चापन है जो बाद के संग्रहों में क्रमशः कम होता गया है। आनंद का ताज़ा संग्रह, *सुनो भूदेव* (परिकल्पना, लक्ष्मीनगर, दिल्ली, 2019) दलित कविता के समादृत कवि मलखान सिंह (सितंबर 1948 - अगस्त 2019) के बहुचर्चित संग्रह, *सुनो ब्राह्मण* (1996) से आगे ले जाता है। संग्रह की भूमिका में दलितवाद और मार्क्सवाद दोनों की कड़ाई से परीक्षा की गयी है और उनके सरोकारों के साझेपन को रेखांकित किया गया है। विषमता में जीने का आदी समाज साम्यवाद को लेकर भांति-भांति की आशंकाएं पाले, उससे डरे, यह स्वाभाविक है। जो अस्वाभाविक है उसकी तरफ़ ध्यान दिलाते हुए आनंद ने भूमिका में लिखा है, 'साम्यवाद एक भूत है जो भारतीय जातिवादियों की नींद उड़ा दे रहा है। मज़ेदार यह है कि ब्राह्मणवादी तो साम्यवाद का कड़ा विरोध करता है, साथ ही साथ ब्राह्मणवाद का विरोध करने वाले दलितवादी भी साम्यवाद और मार्क्सवाद का जमकर विरोध करते हैं। दोनों एक स्तर पर मित्र हो गये हैं। मुझे यह मित्रता समझ में नहीं आती है...' (पृ. 26) विश्वपूंजीवाद अथवा कॉरपोरेट जगत से समर्थित हिंदुत्व की ताक़त और पिछली एक शताब्दी में निर्मित उनके व्यापक व मज़बूत नेटवर्क का ज्ञान कवि को है। वह इसीलिए प्रतिरोध की ऊर्जा को पूरी मितव्ययिता से बरतने की सलाह देता है। उसकी यह सलाह भी ग़ौरतलब है :

दोस्ती करना सीखो
क्रांतिकारी विमर्श करो
जो अपने जाति-धर्म के विरुद्ध खड़ा होगा
वही सच्चा क्रांतिकारी है
वही तुम्हारा दोस्त है
अपनी जाति को मज़बूत कर
सिर्फ़ ब्राह्मणवाद को मज़बूत करोगे (पृ. 31)

हिंसक दमन को अपने भीतर समोये नवउदारवाद ने प्रत्येक देश के दक्षिणपंथ से हाथ मिलाया है। भारत में तो उसे बड़ा मज़बूत ढांचा हासिल हुआ। यहां के जनसंचार को क़ाबू करने में भी उसे बहुत कठिनाई न हुई। असहमत आवाज़ों को नेस्तनाबूद करने का सिलसिला तेज़ हुआ। विवेकशीलता और विज्ञान पर आस्था की आरी चलने लगी :

विज्ञान संदेह, तर्क और जिज्ञासा
की बदौलत
पैदा होता है
मगर...
भारत में आस्था के व्यापारियों ने
...दाभोलकर
पानसारे
और कलबुर्गी की हत्या करवा दी
विज्ञान के पैदा होने की
सारी संभावनाएं ही
ख़त्म की जा रही हैं (पृ.48)

समकाल का बड़ा गहरा दबाव 'सुनो भूदेव' पर है। उनके पिछले संग्रहों में विविध विषयों पर कविताएं थीं, प्रेम और

सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्तियां थीं, जल-थल-प्रकृति-मौसम-पुष्प-पक्षी-सांझ-समीर को देखती रससिक्त निगाहें थीं वे सब जैसे नये संग्रह में रीत गयी हैं, अप्रासंगिक होकर कहीं पीछे छूट गयी हैं। आततायी शासन कविकर्म पर इस तरह भी असर डालता है! मात्र चेताने वाली, आक्रोश से भरी, स्थिति का चिंतातुर विश्लेषण करती, बचाव और प्रत्याक्रमण की तरकीबें तलाशती कविताएं कालांतर में एकरस समझी जाने का जोखिम भी उठाती हैं। काव्यशास्त्रीय शब्दावली के सहारे समझना चाहें तो इस संग्रह के मुख्य स्वर को सुहृदसम्मित उपदेश की कविताएं कह सकते हैं। सलाह दोनों को दी गयी है- वे जो जाति की राजनीति करते हैं, और जो वर्ग की लड़ाई लड़ते हैं। अगर वर्ग की लड़ाई लड़ने वाले जाति के प्रश्न पर 'मकैनिकल एप्रोच' से काम करेंगे तो 'क्रांतिकारी शक्तियां/ दूर होती चली जायेंगी/ और क्रांति के विरुद्ध खड़ी मिलेंगी' (पृ. 53) इसलिए ज़रूरत है जाति के सवाल को संवेदनशीलता से समझने की, 'डी-कास्ट' होने की, आंबेडकर की (*जातिप्रथा उन्मूलन*, *राज्य और अल्पसंख्यक*) और दलित साहित्य की 'प्रतिनिधि पुस्तकें' पढ़ने की।

सुनो ब्राह्मण से *सुनो भूदेव* का अंतर समझना दलित विमर्श की विकासयात्रा से रूबरू होना है। इनके कई अंतरों में एक अंतर यह है कि आनंद ने 'कल्चरल कैपिटल' से आगे जाकर संसाधनों पर कब्ज़े को सवर्णों के चिरकालिक वर्चस्व का प्रमुख कारण माना है। *सुनो ब्राह्मण* में विचारप्रधान कविताएं हैं जबकि *सुनो भूदेव* में विश्लेषणप्रधान। यहां विचार विश्लेषण के पीछे-पीछे चलता है। पहले संग्रह में व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं वाली कविताएं नहीं हैं जबकि दूसरे में व्यक्ति और स्थान दोनों नाम के साथ आये हैं और उनकी पहचान की जा सकती है। *सुनो भूदेव* में आख्यानमूलक कविताएं हैं, *सुनो ब्राह्मण* में अर्जित निष्कर्षों वाली कविताएं। आख्यानमूलक कविताओं में 'नीम गवाह', 'दादी की आत्मकथा', 'गुरूजी पैर नहीं छूते', 'कथावाचक', 'पड़ताइन बुआ', और 'पंडित पुरवा' उल्लेखनीय हैं। ईश्वर को संबोधित या संदर्भित कविताएं दोनों संग्रहों में प्रमुखता से हैं। आत्मालोचन दोनों कवि करते हैं लेकिन आर.डी. आनंद का आत्मालोचन अस्मितावाद को नहीं बख़्शता। मलखान सिंह के दूसरे और अंतिम संग्रह *ज्वालामुखी के मुहाने* (शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली, 2016) तक परिस्थितियां बहुत बदल गयी हैं लेकिन कवि की ओजस्वी वाणी पूर्ववत् है। आनंद अपने कवि को निरंतर अपडेट करते चलते हैं इसीलिए उनके यहां संकट की पहचान सटीक और गहरी होती गयी है। वे जेंडर का मुद्दा भी संजीदगी से उठाते हैं और जाति, वर्ग व जेंडर की राजनीति करने वाली पृथक-पृथक आंदोलनधाराओं को साझे मंच पर आने की शिद्दतभरी सलाह देते हैं। उनकी इच्छा है कि साझेपन की किसी भी ईमानदार पहल या प्रस्ताव को दलित समुदाय यथोचित समर्थन दे :

यह समय प्रतिरोध का है
और तुम बहुत अकेले हो
क्योंकि तुमने उनको भी शत्रु समझ रखा है
जो तुम्हारे बहुत क़रीब हैं
तुम उन्हें आस्तीन का सांप कहते हो
तुम उन्हें पुरातन नस्लवादियों से भी ख़तरनाक कहते हो
और तुम्हारे अंदर के अठावले और पासवान
मुंह चिढ़ा रहे हैं
...
यह बताओ
प्रतिक्रियावादियों से लड़ने के लिए
तुम्हारे पास कौन है?

मो. 9818575440

समय इस तरह का आ गया है

सुरजीत पातर

पद्मश्री सम्मान वापिस करते समय मन में कई तरह की उधेड़बुन होती है। सम्मान प्राप्त करते समय के पूर्व-दृश्य मन में चलते हैं। मन में दुख और रोष होता है। जिसे सम्मान वापिस कर रहे होते हैं उसे हम अपने दुख और रोष का एहसास करवा रहे होते हैं।

रवींद्रनाथ टैगोर याद आ रहे हैं जिन्होंने जलियांवाला बाग़ के हत्याकांड के बाद ब्रिटिश सरकार को 'सर' का ख़िताब वापिस करते समय इस संबंध में तत्कालीन वॉयसराय को चिट्ठी लिखी थी :

समय इस तरह का आ गया है
कि सम्मान के तमग़े हमारे अपमान के साथ मेल
नहीं खा रहे
यह हमारी तौहीन को बल्कि और अधिक उजागर कर रहे हैं।
तो मेरी स्वयं के लिए मेरी यह इच्छा है कि
मैं इन सब ख़ास-उल-ख़ास ख़िताबों से मुक्त होकर
अपने उन देशवासियों के साथ खड़ा हो जाऊं
जो अपने तथाकथित मामूलीपन के कारण
इस तरह के अनादर सह रहे हैं
मानो वो इंसान ही न हों

टैगोर के रोष की इस आवाज़ के साथ सारा राष्ट्र ही नहीं बल्कि सारी दुनिया जुड़ गयी थी। टैगोर, पंजाबियों को टैगोर होने के कारण भी अच्छा लगता है, पर पंजाब के साथ उसके प्रेम, जलियांवाला बाग़ हत्याकांड के बाद अपना ख़िताब वापिस करने, बंदा सिह बहादुर, गुरु गोविंद सिंह और भाई तारु सिंह के बारे में ख़ूबसूरत कविताएं लिखने के कारण, गुरु नानक साहिब की आरती का बंगला में अनुवाद करने के कारण और भी अच्छे लगते हैं। जसवंत दीद की एक दस्तावेज़ी फ़िल्म में टैगोर के लिए कुछ पंक्तियां इस तरह से हैं :

कुल शायरी के जहान का
तू है मान हिंदुस्तान का

तू सपूत धरा बंगाल का
लाख दीप गीतों के बालता

तूने सुने जो नानक के सुख़न
बन थाल जगमगाया था गगन

उसकी दिन-रात की आरती
कुल कायनात की आरती
तुझे मोह लिया पंजाब ने
इसके शबद ने इसके राग ने
पर रुलाइयां मिल गयी थीं राग में
जब जलियांवाले बाग में

तेरा दिल कुछ ऐसा तड़प गया
तूने ख़िताब हाकिम को लौटा दिया

क्या करूं मैं तेरे ख़िताब को
आयी आंच जब मेरे पंजाब को

आज तक धरा पंजाब की
तुझे देती आशीष प्यार की

तू सपूत धरा बंगाल का
मेरे अपने बेटों के साथ का

मेरा राग विराग तू जानता
मुझे मां कह कर तू पहचानता

पद्मश्री सम्मान वापिस करते समय मुझे प्यारे टैगोर याद आये थे। उस याद से मुझे प्रेरणा मिली थी।

सिर से वारता हूं

कॉरपोरेट घराने इस समय सब कुछ हड़पने के लिए बेताब हैं। सारा कारोबार, सारी दौलत, सारी शक्तियां, सारे प्राकृतिक संसाधन । यहां तक कि बहुत सारी सरकारों को भी इन्होंने अपना ज़रख़रीद ग़ुलाम बना लिया है। अब ये गांवों को हड़पने के लिए चल पड़े हैं। इस ललचाये दैत्य की लार खेतों में गिर रही है। बड़ी-बड़ी मशीनें मनुष्य को रौंदकर बढ़ने के लिए तैयार हैं। इसीलिए सारा पंजाब किसान आंदोलन के सरोकारों की सार्थकता को नमस्कार कर रहा है।

दूसरी बात यह है कि जिस समझदारी, धीरज और सहनशीलता के साथ यह आंदोलन चलाया जा रहा है, उसने हमारी आत्माओं को तरो-ताज़ा कर दिया है । हमें यह एहसास हुआ कि पंजाब मरा नहीं, ज़िंदा है, इसके मन में पुरखों की याद ज़िंदा है, इसका सिदक ज़िंदा है। हमारे लोगों की एकता शक्ति, खुशमिज़ाजी और चढ़ रही कला को प्रणाम है।

मैं मैं तू तू करते थे
हम आज 'हम' हैं हुए
इस 'हम' को संभाल के रखना
हम मुश्किल से 'हम' हैं हुए

वही 'हम' मुकद्दस होता
जो सच के संग खड़ा होता
दुखों में भी मेले लगते
जब दुख-सुख साझे होते

पंजाबी इस आंदोलन के सुघड़ नेताओं के भी शुक्रगुज़ार हैं। वे महसूस करते हैं कि इन नेताओं की दूरदृष्टि, नम्रता, सहृदयता, तथा लोगों के प्रति अपनत्व भरे व्यवहार के कारण हमने एक जीत तो हासिल कर ही ली है। वह है, दिल्ली के लोगों का प्यार । हमारे नेताओं ने उनसे माफ़ी भी मांगी है कि हम अपने इतने बड़े जमावड़े से आपको तकलीफ़ दे रहे हैं। लोगों ने झाड़ू पकड़ कर सड़कें भी साफ़ कर दी और अब ख़ाली पड़ी ज़मीन संवार कर उसमें सब्ज़ियां भी बो रहे हैं और कह रहे हैं कि हम अगर जीत कर वापस चले गये तो ये सब्ज़ियां यहीं के लोग खायेंगे और हमें याद करेंगे और यदि हमें अधिक देर ठहरना पड़ा तो हम उनके साथ मिलकर खायेंगे। इस सोच से ज़्यादा सुंदर कविता क्या हो सकती है? इस वाक्य में भविष्य के आंदोलनों के लिए भी संकेत हैं। इस तरह के सृजनात्मक रोष की मिसाल शायद ही कहीं मिले।

इस आंदोलन में हमारे बेटे-बेटियां भी पूरी शिद्दत से शामिल हैं। दुखों में भी एक मेला लग गया। मैंने एक वीडियो देखी जिसमें दिल्ली की एक प्यारी सी बेटी एक पंजाबन को कह रही थी 'यदि आप यहां से चले गये तो हम उदास हो जायेंगे।' यह वाक्य सुनकर मेरी आंखें नम हो गयीं।

हम सभी के मन में इस आंदोलन की शांतिपूर्ण, सहनशील शूरवीरता पर बलिहारी जाने की भावना भी शामिल है। इस आंदोलन के सरोकार तो निस्संदेह लोगों के प्यार की हामी भरते ही हैं, अपने सर्जनात्मक अंदाज़ के कारण भी यह आंदोलन दुनिया के लिए मिसाल बन गया है। हम सभी जानते हैं कि इस आंदोलन की जीत के साथ हमारी सारी समस्याएं हल नहीं हो जायेंगी। हमें अपने मूल्यों के अपने व्यवहार और अपने संपूर्ण अस्तित्व के पक्ष से भी बहुत कुछ बदलना होगा। यह आंदोलन हमारे मन में पंजाब की पुर्नसर्जना की उम्मीद, धीरज और पुरुषार्थ जगाता है।

सम्मान वापस करना कुछ ऐसा है :

इन सुंदर बेटों के सर ऊपर से
और इन प्यारी बेटियों के सर ऊपर से
महामेले में आये
सभी लोगों के सिर ऊपर से
सिर्फ़ सिरवारना किया है

इन उमंग वाली बहनों के सिर ऊपर से
और अपने बांके भाइयों के सिर ऊपर से
इन धरती जैसी मांओं के सिर ऊपर से
और पेड़ों के समान बुज़ुर्गों के सिर ऊपर से
उन सम्मानीय नेताओं के सिर ऊपर से
सिर्फ़ सिरवारना किया
जिनके धैर्य, सच, सयानप, हलीमी, हौसले और
दूरदृष्टि ने
सजा दिया है इस मेले को इतनी दूर तक

कि इसका एक सिरा गौरवमय इतिहास से
मिलता
और दूसरा हमारी संतानों के भविष्य की उम्मीद से मिलता

और तीसरा और चौथा
इस मेले को दया व विनय की नजाकत भरी जीवन-पद्धति के आगोश में इस तरह
संभाला है
कि इस मेले को कोई दाग़ ना लगे
इस मेले पर कोई दोष न आये
इस मेले का नाम मैला न हो।

यह मेला है करोड़ों शब्द जैसे होते किसी एक
नज़्म में शामिल।
इस मेले का हुस्न जमाल देख के
... ...
दुआ की है
कि हों तुम्हारी
सभी बलाएं दूर
ग़रीबी और निराशा दूर
अन्याय वाली बांट भी काफ़ूर
तेरी जात-पात टले
तुम्हारा श्रम-कर्म फले
तुम्हारा भेदभाव जले
तुम्हारा तन और मन दुरुस्त
मन नीचा और मति ऊंची...

नानक नाम चढ़दी कला
तेरे भाने सरबत दा भला

फ़तह का मार्ग

हमें फ़तह हासिल करनी है।

हमारी जीत का मार्ग ननकाना साहिब के अत्याचारी महंत नारायणदास से मुक्त करवाने वाली ऊंची मति में से निकलेगा जिसके क़हर से हिंदुस्तान और पूरी दुनिया त्राहि-त्राहि कर उठी थी। पर हमारे सब्र, संतोष और शांतिपूर्ण सहनशीलता ने दुनिया को हैरान कर दिया था। लोग यह तो जानते थे कि यह योद्धाओं की क़ौम है, हथियारों की जंग में इनका कोई सानी नहीं, पर उस दिन उन्होंने यह देखा कि शांति, सहनशीलता, शूरवीरता में शायद ही दुनिया में कोई इनसे मुक़ाबला कर सके।

20 फरवरी 2021 उस अनूठी फ़तह की प्रथम शताब्दी का पर्व है।

गुरु के बाग़ की फ़तह की प्रथम शताब्दी का पर्व अगस्त 2022 में है

30 अक्टूबर 2022 पंजा साहब में गाड़ी रोकने के बलिदान-दिवस की प्रथम शताब्दी का पर्व भी है।

1 अप्रैल 2020 सर्व-धर्म सम्मान के रक्षक हिंद की चादर गुरु तेग बहादुर जी के पावन प्रकाश पर्व की चौथी शताब्दी का पर्व भी है।

यह कैसा संयोग है कि यह चारों पर्व हमारे बहुत क़रीब हैं।

हम बहुत भाग्यशाली हैं कि इन सब की स्मृति से शूरवीरता, सहनशीलता और पूर्ण कुर्बानी की रोशनी आ रही है।

मशहूर ईसाई मिशनरी सी एफ़ एंड्रयूज़ ने गुरु का बाग़ के मोर्चे का आंखों देखा वर्णन किया था। उसने *मैनचेस्टर गार्डियन* में 15 से 24 फ़रवरी, 1924 में लिखा:

> वे हाथ जोड़कर पाठ करते जा रहे थे। ब्रिटिश तथा हिंदुस्तानी सिपाही उन पर धातु की मूठोंवाली लाठियां चला रहे थे। वे गश खाकर गिर पड़ते, फिर उठ बैठते। उन्हें देखा तो मुझे ईसा मसीह की सलीब याद हो आयी।

हमें इन पावन पर्वों की शांति, सहनशीलता व शूरवीरता की रोशनी में नया अध्याय रचना है जिससे भविष्य में होने वाले विश्व के आंदोलन रोशनी, प्रेरणा और हौसला लिया करेंगे। यह हमारी उम्मीद भी है और प्रार्थना भी।

एक बावला काव्यात्मक ख़याल।

कल सुबह मुझे सपने जैसा काव्यात्मक ख़याल आया कि देश के प्रधानमंत्री इस अद्वितीय लोक लहर को संबोधित कर रहे हैं। उन्होंने भी एक अद्वितीय जैसा वाक्य कहा :

'प्यारे देशवासियों, आप जानते ही हो, मैं आज तक कभी कहीं नहीं झुका। पर आज इन धरतीपुत्रों के सामने झुकता हूं। इनके दुख के सामने झुकता हूं। इनके धैर्य के सामने झुकता हूं। तीनों क़ानून हम वापस लेते हैं और इन धरतीपुत्रों की सलाह के साथ नये क़ानून बनाने का अहद करता हूं।

जय जवान, जय किसान..'.

नारों से सारा देश गूंज उठा

प्रधानमंत्री के इन वाक्यों के साथ मेहनतकश किसानों की फ़तह हुई, लोगों की विजय हुई, देश के प्यार की विजय हुई और प्रधानमंत्री की भी विजय हुई।

मैंने यह बात अपने एक दोस्त को सुनायी तो वह कहने लगा, 'कवि के बावले ख़याल और राजनीतिज्ञों के सयानेपन में ख़्वाहिशों और हैसियत जितना, दिन और रात जितना फ़ासला होता है।' इस सपने के बारे में बात करते हुए चार्ली चैपलिन की फ़िल्म, द *ग्रेट डिक्टेटर* की याद आ रही है।

मो. 98 145 04 272

अनुवाद : बलवंत कौर

मो. 9868892723

(किसान आंदोलन के समर्थन में पद्मश्री वापिस करने के बाद पंजाबी के वरिष्ठ कवि सुरजीत पातर ने *पंजाबी ट्रिब्यून* में यह लेख लिखा था)

13 दिसंबर, 2020, *पंजाबी ट्रिब्यून* से साभार

किसान आंदोलन : भाजपा का दुष्प्रचार

('अमीर किसान', 'भूमंडलीय साज़िश' और 'स्थानीय मूर्खताएं')

पी साईनाथ

दिल्ली की सीमाओं पर विरोध-प्रदर्शन करते किसानों को तितर-बितर करने की कोशिशें जब नाकाम रहीं तो स्थानीय दमन को जायज़ ठहराने के लिए अंतरराष्ट्रीय दुरभिसंधियों की बात की जाने लगी। कौन जाने, कल को बात बढ़कर किसी और ग्रह की दुरभिसंधि तक भी पहुंच जाये!

लाखों लोगों का बिजली-पानी काट देना, ऐसा करके उन्हें स्वास्थ्य संबंधी गंभीर ख़तरों में धकेल देना, पुलिस और अर्द्ध-सैनिक बलों की घेरेबंदी में डालकर उनके ऊपर ख़तरनाक रूप से अस्वास्थ्यकर हालात थोप देना, आंदोलनकारी किसानों तक पत्रकारों की पहुंच को लगभग असंभव बना देना, पिछले दो महीनों में अपने 200 लोगों की जानें गवां चुके समूह को दंडित करना—दुनिया में कहीं भी इसे एक बर्बर कार्रवाई और मनुष्य के अधिकारों तथा गरिमा पर हमले के रूप में देखा जाता।

लेकिन हम, हमारी सरकार और शासक वर्ग के दिमाग़ पर ज़्यादा गहरी चिंताएं सवार हैं। जैसे यह कि इस धरती के महानतम राष्ट्र को बदनाम और अपमानित करने की जो साज़िशें रिहाना और ग्रेटा थनबर्ग जैसे वैश्विक आतंकवादियों द्वारा चलायी जा रही हैं, उन्हें कैसे नाकाम किया जाये।

एक गल्प के तौर पर यह पागलपन की हद तक मज़ेदार होता। एक वास्तविकता के तौर पर यह सिर्फ़ पागलपन है।

यह सब भले ही हमें चौंका दे, पर हमें हैरानी नहीं होनी चाहिए। जिन्होंने 'न्यूनतम सरकार, अधिकतम शासन' के नारे पर भरोसा किया था, उन्हें भी अब तक पता चल चुका होगा कि असल खेल क्या था। वह था, अधिकतम सरकारी बल-प्रयोग और अधिकतम ख़ून-ख़राबे वाला शासन। चिंता की बात यह है कि दूसरे मसलों पर लगातार चलती रहनेवाली ज़ुबानों ने भी, जिनमें से कुछ ने सत्ता का बचाव करने और ऐसे सभी क़ानूनों की सराहना करने में कभी कोताही नहीं की, सोची-समझी चुप्पी अख्तियार कर ली। आपको लगा होगा कि इस तरह के लोग भी लोकतंत्र की इस रोज़ाना की ठुकाई-पिटाई के साथ सहमति जताने से इनकार कर देंगे।

केंद्रीय मंत्रिमंडल का एक-एक सदस्य जानता है कि किसान आंदोलन के समाधान के रास्ते में सचमुच क्या आड़े आ रहा है।

वे जानते हैं कि किसानों के साथ इन तीन क़ानूनों पर कभी कोई सलाह-मशवरा नहीं किया गया—अगरचे किसान इसकी मांग उसी दिन से कर रहे थे जिस दिन उन्हें पता चला कि ये अध्यादेश के रूप में लाये जा रहे हैं।

इन क़ानूनों को बनाने में राज्यों से भी कोई सलाह-मशवरा नहीं किया गया—अगरचे कृषि भारतीय संविधान की राज्य सूची में है। विपक्षी दलों के साथ या संसद के भीतर भी कोई बात नहीं हुई।

भाजपा नेता और केंद्रीय मंत्रिमंडल जानता है कि कोई सलाह-मशवरा नहीं हुआ—क्योंकि खुद उनसे कभी बात नहीं की गयी। न तो इस पर, न ही दूसरे महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर। उनका काम तो बस नेता के आदेश पर सागर की लहरों को वापस मोड़ने का है।

और फ़िलहाल लहरें दरबारियों से बेहतर काम कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में भारी प्रदर्शन हो रहे हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान नेता राकेश टिकैत उस दिन के मुक़ाबले, जब उन्हें ध्वस्त करने की कोशिश की गयी, आज कहीं ज़्यादा बड़ी क़द-काठी हासिल कर चुके हैं। महाराष्ट्र में 25 जनवरी को बहुत बड़ा विरोध-प्रदर्शन हुआ। राजस्थान में, कर्नाटक में—जहां ट्रैक्टर रैली को बेंगलुरु में प्रवेश करने से रोक दिया गया—आंध्र प्रदेश और अन्य जगहों पर भी इसी तरह के प्रदर्शन हुए। हरियाणा में तो हालत ऐसे हैं कि आम सभाओं में भाग लेना मुख्यमंत्री के लिए नामुमकिन होता जा रहा है।

पंजाब में, ग़ालिबन, हर परिवार आंदोलनकारियों के साथ है—कई हिस्सा लेने के लिए बेताब हैं और बहुतेरे ऐसा करने की प्रक्रिया में पहले ही उतर चुके हैं। वहां 14 फ़रवरी को होने जा रहे शहरी स्थानीय निकाय चुनावों के लिए भाजपा को कोई उम्मीदवार नहीं मिल रहा है। जो लोग पहले से उसके पास हैं—यानी पुराने वफ़ादार—वे भी अपनी पार्टी के निशान का उपयोग करने से कतरा रहे हैं। इस बीच राज्य में युवाओं की एक पूरी पीढ़ी उनसे अलग हो गयी है और भविष्य के लिए इसके गहरे निहितार्थ हैं।

यह इस सरकार की आश्चर्यजनक उपलब्धि है कि इसने किसानों और आढ़तियों जैसे पारंपरिक वैरियों समेत सामाजिक शक्तियों के एक विराट और असमान दायरे को एकताबद्ध कर दिया है। इसके अलावा इसने सिख, हिंदू, मुस्लिम, जाट और ग़ैर-जाट, यहां तक कि खाप और 'ख़ान मार्केट तबक़े' को भी एकता के सूत्र में बांध दिया है। क्या बात है!

लेकिन जो आवाज़ें अब शांत पड़ गयी हैं, उन्होंने पहले दो महीनों तक हमें आश्वस्त किया था कि यह ''महज़ पंजाब और हरियाणा'' का मामला है। कोई और प्रभावित नहीं है। किसी को फ़र्क़ नहीं पड़ता।

मज़ेदार है न! आख़िरी दफ़ा जब एक कमेटी ने, जो सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त नहीं की गयी थी, तहक़ीक़ात की, तब पंजाब और हरियाणा दोनों भारतीय संघ के ही हिस्से थे। आपका यह सोचना लाज़िम था कि वहां जो कुछ होता है, उसका असर हम सब पर पड़ता है।

उन वाग्मी स्वरों ने हमें यह भी कहा था—और अभी भी दबी ज़ुबान में कहते हैं—कि सुधारों का प्रतिरोध करनेवाले सभी 'अमीर किसान' हैं।

वाह भई, दिल जीत लिया! पिछले एनएसएस सर्वेक्षण के अनुसार, पंजाब में एक किसान परिवार की औसत मासिक आय 18,059 रुपये थी। प्रत्येक किसान परिवार में व्यक्तियों की औसत संख्या 5.24 थी। इसलिए प्रति व्यक्ति मासिक आय लगभग 3,450 रुपये ठहरती है। संगठित क्षेत्र में सबसे कम वेतन पाने वाले कर्मचारी से भी कम।

बाप रे! इतनी दौलत! आधी बात तो हमें बतायी नहीं गयी थी। हरियाणा के लिए संबंधित आंकड़े (किसान परिवार का आकार 5.9 व्यक्ति) इस प्रकार थे- 14,434 रुपये औसत मासिक आय और प्रति व्यक्ति मासिक आय लगभग 2,450 रुपये। निश्चित रूप से, यह छोटी रक़म अभी भी उन्हें अन्य भारतीय किसानों से आगे रखती है। उदाहरण के लिए, गुजरात में किसान परिवार की औसत मासिक आय 7,926 रुपये थी। प्रत्येक किसान परिवार में औसतन 5.2 व्यक्तियों के साथ, प्रति व्यक्ति मासिक आय 1,524 रुपये थी।

किसान परिवार की मासिक आय के लिए अखिल भारतीय औसत 6,426 रुपये था (लगभग 1,300 रुपये प्रति व्यक्ति)। वैसे, इन सभी औसत मासिक आंकड़ों में सभी स्रोतों से होने वाली आय शामिल है। केवल खेती

से ही नहीं, बल्कि पशुधन, गैर-कृषि व्यवसाय और मज़दूरी तथा वेतन से होने वाली आय भी।

यह है भारतीय किसान की वह दशा जो राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 70वें चक्र, 'की इन्डिकेटर्स ऑफ़ सिचूऐशन ऑफ़ इंडियन ऐग्रिकल्चर हाउसहोल्ड्स इन इंडिया' (2013) में दर्ज है। और याद रखिए, भारत सरकार ने 2022 में, यानी अगले 12 महीनों में किसानों की आमदनी को दुगुना करने का वायदा किया है। निस्संदेह, यह एक कठिन कार्यभार है, जिसके कारण रिहानाओं और थनबर्गों के विघटनकारी हस्तक्षेप पर और अधिक झल्लाहट होती है।

ओह, दिल्ली की सरहदों पर जमे ये अमीर किसान, जो 2 डिग्री सेल्सियस या उससे कम तापमान में धातु की ट्रॉलियों में सोते हैं, जो 5-6 डिग्री तापमान में खुले में स्नान करते हैं — इन्होंने निश्चित रूप से भारतीय अमीरों के बारे में हमारी समझ में सुधार किया है। हमने जितना सोचा था, ये उससे कहीं ज़्यादा सख्तजान निकले।

इस बीच किसानों से बात करने के लिए सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त कमेटी अपने-आप से भी क़ायदे से बात करने में असमर्थ जान पड़ रही है—इसके चार सदस्यों में से एक ने पहली बैठक से पहले ही कमेटी छोड़ दी। जहां तक सचमुच के आंदोलनकारियों से बात करने का सवाल है, वह तो हुई ही नहीं।

12 मार्च को सुप्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त समिति की दो महीने की अवधि (कृषि के लिए बेहद ज़रूरी कीट परागणकर्ताओं का अधिकतम जीवन काल) समाप्त हो चुकी होगी। तब तक समिति के पास उन लोगों की एक लंबी सूची होगी, जिनसे उन्होंने बात नहीं की, और इससे कहीं ज़्यादा लंबी उन लोगों की सूची, जिन्होंने उनसे बात नहीं की। और शायद उन लोगों की एक छोटी सूची, जिनसे उन्हें कभी बात नहीं करनी चाहिए थी।

आंदोलनकारी किसानों को डराने-धमकाने की हर कोशिश के बाद उनकी संख्या में बढ़ोत्तरी हो जाती है। उन्हें बदनाम करने के हर क़दम ने व्यवस्था की ज़रखरीद मीडिया को भले ही बहुत ज़्यादा आकर्षित किया हो, ज़मीन पर उसका असर उलटा हुआ है। डरावनी बात यह है कि यह ज़मीनी असर किसी भी तरह से उन कोशिशों को तेज़ करने से इस सरकार को रोक नहीं पायेगा जो और भी अधिनायकवादी, शारीरिक और क्रूर होती जायेंगी।

कॉरपोरेट मीडिया में कई लोग जानते हैं, और भाजपा के अंदर तो कई लोग और भी बेहतर तरीक़े से जानते हैं, कि इस विवाद में शायद सबसे दुर्लन्घ्य बाधा है व्यक्तिगत अहम्। नीति नहीं, यह भी नहीं कि सबसे अमीर निगमों से किये गये वादों को पूरा करना है (वे निश्चित रूप से, किसी न किसी दिन पूरे कर दिये जायेंगे)। क़ानूनों की शुचिता का भी सवाल नहीं है (जैसा कि सरकार ने ख़ुद ही स्वीकार किया है, वह इसमें कई संशोधन कर सकती है)। बात सिर्फ़ इतनी है कि राजा कभी ग़लत नहीं कर सकता। और ग़लती को स्वीकार करना और उससे पीछे हटना तो अकल्पनीय है। इसलिए, चाहे देश का हर एक किसान दामन छोड़ जाये—नेता ग़लत नहीं हो सकता, चेहरा नहीं खो सकता। मुझे इस पर बड़े दैनिक समाचार पत्रों में एक भी संपादकीय नहीं मिला, दबी ज़ुबान से भी यह बात नहीं कही गयी, हालांकि वे जानते हैं कि यही सच है।

इस पूरे गड़बड़झाले में अहम् कितना अहम है? इंटरनेट शटडाउन पर एक पॉप स्टार के सरल-से ट्वीट—'हम इसके बारे में बात क्यों नहीं कर रहे?'—पर जो प्रतिक्रिया आयी, उस पर विचार करें। जब बहस यहां तक पहुंच जाती है कि 'अरे, मोदी के पास रिहाना से ज़्यादा फ़ॉलोवर्स हैं', तो हमारा दिशा-ज्ञान लुप्त हो जाता है। असल में, हम तो उसी दिन दिशाहारा हो गये थे जिस दिन विदेश मंत्रालय ने इस मामले पर आतंकवाद-निरोधक आत्मघाती हमले जैसे कारनामों का नेतृत्व किया और देशभक्त सेलिब्रिटी लाइट ब्रिगेड को अपनी ओर से साइबर हमला करने की प्रेरणा दी (विनाश की डिजिटल घाटी में, जहां ट्वीटों की गर्जन-तर्जन और बौछारें हुईं, बढ़ती हुई निराशा की परवाह किये बिना उसने छह सौ का सम्माननीय आंकड़ा प्राप्त कर लिया)।

मूल अपमानजनक ट्वीट में, जहां इस पर महज़ चिंता जतायी गयी थी कि हम इस बारे में बात क्यों नहीं

कर रहे हैं, कोई स्पष्ट रुख़ या पक्ष नहीं लिया गया था। यह आईएमएफ़ के मुख्य अर्थशास्त्री और संचार निदेशक के बयानों के विपरीत था, जिन दोनों ने सार्वजनिक रूप से कृषि क़ानूनों की प्रशंसा की है (साथ में 'सुरक्षात्मक उपायों'/'सेफ़्टी नेट' संबंधी 'सावधानी' बरतने की सलाह भी दी है—जिस तरह निकोटीन बेचनेवाले पूरी ईमानदारी से अपने सिगरेट के डिब्बों पर वैधानिक चेतावनी लिख देते हैं)।

बिल्कुल नहीं, एक पॉप कलाकार और एक 18 वर्षीय जलवायु कार्यकर्ता बिलाशक ख़तरनाक हैं, जिनसे पूरी सख़्ती से निपटा जाना चाहिए। कोई समझौता नहीं। यह तसल्ली की बात है कि दिल्ली पुलिस इस काम पर निकल पड़ी है। और अगर वे वैश्विक साज़िश से आगे बढ़ते हुए इसमें किसी और ग्रह का हाथ होने का पता लगाने के लिए निकलते हैं—आज भूमंडल, कल आकाशगंगा—तो मैं उन लोगों में शामिल नहीं पाया जाऊंगा जो उनका मज़ाक़ उड़ा रहे होंगे। जैसा कि नेट पर चक्कर काटती मेरी पसंदीदा उक्तियों में से एक में कहा गया है, 'दूसरे ग्रहों में मौजूद प्रज्ञा के अस्तित्व का सबसे पुख़्ता सबूत यह है कि उन्होंने हमें अकेला छोड़ दिया है।'

मो. 9869212127

(5 फ़रवरी 2021 को द *वायर* में प्रकाशित अंग्रेज़ी लेख का अनुवाद)

अनुवाद : संजीव कुमार
मो. 9818577833

दो नज़्में

गौहर रज़ा

1. किसान

तुम किसानों को सड़कों पे ले आये हो
अब ये सैलाब हैं
और सैलाब तिनकों से रुकते नहीं

ये जो सड़कों पे हैं
ख़ुदकशी का चलन छोड़ कर आये हैं
बेड़ियां पाओं की तोड़ कर आये हैं
सोंधी ख़ुशबू की सब ने क़सम खायी है
और खेतों से वादा किया है कि अब
जीत होगी तभी लौट कर आयेंगे

अब जो आ ही गये हैं तो यह भी सुनो
झूठे वादों से ये टलने वाले नहीं

तुम से पहले भी जाबिर कई आये थे
तुम से पहले भी शातिर कई आये थे
तुम से पहले भी ताजिर कई आये थे
तुम से पहले भी रहज़न कई आये थे

जिनकी कोशिश रही
सारे खेतों का कुंदन, बिना दाम के
अपने आक़ाओं के नाम गिरवी रखें
उन की क़िस्मत में भी हार ही हार थी
और तुम्हारा मुक़द्दर भी बस हार है

तुम जो गद्दी पे बैठे, ख़ुदा बन गये
तुम ने सोचा के तुम आज भगवान हो
तुमको किस ने दिया था ये हक़,
ख़ून से सबकी क़िस्मत लिखो, और लिखते रहो

गर ज़मीं पर ख़ुदा है, कहीं भी कोई
तो वो दहक़ान है,
है वही देवता, वो ही भगवान है

और वही देवता,
अपने खेतों के मंदिर की दहलीज़ को छोड़ कर
आज सड़कों पे है
सर-ब-कफ़, अपने हाथों में परचम लिये
सारी तहज़ीब-ए-इंसान का वारिस है जो
आज सड़कों पे है

हाकिमो! जान लो, तानाशाहो सुनो!
अपनी क़िस्मत लिखेगा वो सड़कों पे अब
काले क़ानून का जो कफ़न लाये हैं
धज्जियां उसकी बिखरी हैं चारों तरफ़
इन्हीं टुकड़ों को रंग कर धनक रंग में
आने वाले ज़माने का इतिहास भी
शाहराहों पे ही अब लिखा जायेगा।

तुम किसानों को सड़कों पे ले आये हो
अब ये सैलाब हैं
और सैलाब तिनकों से रुकते नहीं

2. हदबंदी

घर में चैन से सोने वालो!
संघर्षों की पथरीली राहों पर चलना
बिल्कुल भी आसान नहीं है
ये दहक़ां जो सड़कों पर हैं
इन के लिए भी

खेतों को, खलियानों को
या बाग़ों को, चौपालों को
छोड़ के अपने हक़ की ख़ातिर
दिल्ली की सरहद तक आना
बिल्कुल भी आसान नहीं था

काश कि ऐसा होता, दिल्ली
तुमने बांहें खोली होतीं
इनको गले लगाया होता
ज़ख्मों पर कुछ मरहम रखते
इनके दुःख को साझा करते
और कुछ अपने ज़ख़्म दिखाते
इनसे कहानी, इनकी सुनते
अपनी भी रूदाद सुनाते

काश कि ऐसा होता, दिल्ली
तुम इनको मेहमान समझते
तुम इनको भगवान समझते
बांहें खोल के स्वागत करते

गर ये नहीं तो इतना करते
तुम इनको इंसान समझते
कांटों के ये जाल न बुनते
पत्थर की दीवार न चुनते
कीलों के बिस्तर न बिछाते
उन पर तुम इल्ज़ाम न धरते
तरह तरह के नाम न धरते

काश कि ऐसा होता हमदम,
संघर्षों के इन गीतों में
एक नग़मा दिल्ली का होता
काश कि आज़ादी की पहली
जंग की यादें ताज़ा होतीं
काश कि तुम को याद ये रहता
मेरठ के जब बाग़ी पहुंचे
तुमने क्या सम्मान किया था

दहक़ानों के उन बेटों पर
जान को भी क़ुर्बान किया था

काश कभी वो वक़्त न आये
जब ये दहक़ां लौट के जायें
गांव की हदबंदी कर लें
कांटों के कुछ जाल बिछायें
कीलों के बिस्तर फैलायें
और तुम देश के राज सिंहासन पर बैठे तनहा रह जाओ

मो. 9810358179

मुग़लकालीन किसान आंदोलन

सूरजभान भारद्वाज

मुग़लकालीन किसान आंदोलन से संबंधित इतिहास के विद्वानों ने बहुत कम लिखा है। बहुत पहले इरफ़ान हबीब ने अपनी पुस्तक, *Agrarian System of Mughul India* 1963 प्रकाशित की थी। उन्होंने अपनी पुस्तक में मुग़लकालीन कृषि विद्रोहों की चर्चा की है। उसके बाद इस विषय पर कोई गंभीर शोध नहीं हुए। हालांकि 1990 के दशक तक किसानों के शोध का इतिहास, विद्यार्थियों में काफ़ी आकर्षण का क्षेत्र माना जाता था। मगर इसके बाद धीरे-धीरे यह विषय शोध के लिए कोई आकर्षण का विषय नहीं रहा। इसका एक कारण तो यह रहा है कि कैंब्रिज स्कूल और अमेरिकन विश्वविद्यालयों में होने वाले इतिहास लेखन में नये तरह के शोधों ने विद्यार्थियों का ध्यान अपनी तरफ़ खींचा है, जबकि विद्यार्थियों के लिए यह एक गंभीर शोध का विषय है। जब हम मुग़लकालीन या मध्यकालीन इतिहास को पढ़ते हैं या पढ़ाते हैं तब हमें मुग़लकालीन कृषि ढांचे को समझना होगा। मुग़ल राजसत्ता कृषि ढांचे पर बनी हुई अर्थव्यवस्था पर टिकी हुई थी। इस अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ रूप से चलाने के लिए एक भू-राजस्व नीति बनायी गयी। इस भू-राजस्व नीति की विशेषता यह थी कि प्रत्येक किसान के कृषि उत्पादन का सही आकलन करके राज्य उससे लगभग 40 प्रतिशत भू-राजस्व के रूप में ले लेता था। इसके अलावा उसको कुछ दूसरे कर भी चुकाने पड़ते थे, जो दस्तूरवार (Customary) होते थे। परंपरागत रिवाज मानकर हर किसान, राज्य को भू-राजस्व चुकाना अपना एक तरह से दायित्व समझते थे। यदि बहुत अच्छी फ़सल हुई है तब तो वह ख़ुशी से भू-लगान चुका देता था, यदि फ़सल उतनी अच्छी नहीं हुई तब उसको भू-लगान चुकाने में परेशानी होती थी क्योंकि उसके अपने परिवार के खाने के लिए कुछ बचता नहीं था। आमतौर से किसान की बढ़िया फ़सल कम ही होती थी, क्योंकि फ़सल का अच्छा होना और ख़राब होना मानसून के अच्छे होने और ख़राब होने पर निर्भर करता था। सूखा पड़ना आम बात थी। कभी उसकी फ़सल ओलावृष्टि से ख़राब हो गयी तो कभी खड़ी फ़सल कड़ाके की सर्दी ने फूंक दी और कभी तेज़ आंधी से कटी हुई फ़सल उड़ गयी, तो कभी बाढ़ में डूब गयी। जब तक किसान की फ़सल पककर तैयार नहीं होती और अनाज निकलकर उसके घर नहीं आता तब तक वह आसमान की ओर ताकता रहता था। हरध्यान सिंह चौधरी ने एक भजन में किसान के हालात इस प्रकार बयान किये :

पट-पट कै दिन रात कमाया, फिर भी भूखा सोया रै।
अन्नदाता, तेरा हाल देखकर मेरा जीवड़ा रोया रै॥
तेरे बैरी बहोत जगत में, तूं क्यूंकर रहै रूखाला रै।
सूखा, मूसा, चिड़िया, बईयां, गादड़ कर गया चाला रै॥
आंधी, धूंध फूल नै खोदे, बुरी आग तैं पाला रै।
औले, बिजली फ़सल फूंकदे रूखां तक का गाला रै॥
पीपी, टीडी, सुंडी, रोली, कीड़ा, कांदरा यो रोज काढ़ले कोया रै।
अन्नदाता तेरा हाल देखकर मेरा जीवड़ा रोया रै॥

हरियाणवी लोककवि चौधरी हरध्यान सिंह ने अपनी रागनी के माध्यम से यह बताया है कि प्रकृति और जंगली जीव किसान की फ़सल के इतने सारे दुश्मन होते हैं। भूखा प्यासा रहकर सुबह से शाम तक काम करता है, फिर भी भूखा ही सोता है। इस प्रकार की किसान की दयनीय स्थिति मुग़ल भारत में समझी जा सकती है। चूंकि मुग़ल राज्य का जीवित रहना किसान द्वारा पैदा किया गया कृषि उत्पादन से प्राप्त भू-राजस्व पर निर्भर करता था, इसलिए मुग़ल स्टेट कृषि उत्पादन को बनाये रखने के लिए विशेष ध्यान देता था। ज़रूरतमंद किसानों को नयी फ़सल उगाने के लिए महाजनों से तक़ावी (Loan) का भी प्रबंध करवाता था। अकाल के समय ज़्यादा से ज़्यादा कच्चे कुएं खोदाने के लिए भी किसान को प्रोत्साहित करता था। ज़्यादा से ज़्यादा ज़मीन को जुतवाने के लिए अपने अधिकारियों (आमील) को समय समय पर आदेश भी देता था। राज्य का प्रयास रहता था कि ज़्यादा से ज़्यादा ज़मीन पर खेती हो, जिससे उसको सर्वाधिक भू-लगान प्राप्त होता रहे। चूंकि बादशाह से लेकर गांव के पटवारी तक सभी कृषि उत्पादन से प्राप्त भू-राजस्व पर जीवित रहते थे, इसलिए मुग़ल राज्य ने बड़ी संख्या में भू-राजस्व अधिकारियों की नियुक्ति की ताकि वे भू-राजस्व की नीति को सही रूप से एवं सुचारु रूप से लागू कर सकें। साथ ही साथ किसानों से भी दस्तूर के हिसाब से भू-लगान की वसूली करें। इसका काफ़ी हद तक श्रेय मुग़ल बादशाह अकबर को जाता है जिसने मुग़ल स्टेट की नींव रखते समय इन सभी बातों पर ध्यान दिया। भू-राजस्व प्रणाली की तरह मनसबदारी व्यवस्था भी बनायी गयी थी जिसके अंतर्गत मुग़ल राज्य की सैनिकों के रख-रखाव की व्यवस्था को नियंत्रित किया गया था। इसमें प्रत्येक मनसबदार को अपनी हैसियत (पद और ओहदा) के हिसाब से सैनिकों की संख्या रखनी होती थी। इसके लिए मनसबदारों को उनके वेतन के अनुसार माप करके जागीरें दी जाती थीं। मनसबदारी व्यवस्था जिस पर मुग़लों की सैनिक ताक़त टिकी हुई थी और भू-लगान व्यवस्था जिस पर मुग़ल राज्य की आर्थिक नीति टिकी हुई थी - ये दोनों मुग़लों की बहुत महत्वपूर्ण संस्थाएं थीं जो एक दूसरे से जुड़ी हुई थीं, मगर इन दोनों संस्थाओं में एक दूसरे के साथ अंतर्विरोध बना हुआ था क्योंकि मुग़ल राज्य की यह एक नीति यह थी कि कोई भी मनसबदार अपनी जागीर तीन वर्ष से ज़्यादा नहीं रख सकता था, उसका दूसरी जगह की जागीर में तबादला कर दिया जाता था। यह नियम इसलिए बनाया गया था ताकि लंबे समय तक एक जागीर में रहने से मनसबदार वहां के किसान व ज़मींदारों के साथ मिलकर ताक़तवर न बन जाये, जिससे राज्य को ख़तरा हो सकता था। इसलिए मनसबदारों के जल्दी-जल्दी तबादलों की नीति अपनायी गयी, इससे बादशाह की ताक़त बढ़ती थी। मगर जल्दी-जल्दी तबादलों की नीति ने मनसबदारों की प्रवृत्ति को शोषणकारी बना दिया। मनसबदार को लगता था कि उसका तबादला होने वाला है इसलिए वह चाहता था कि उसकी जागीर से ज़्यादा से ज़्यादा भू-राजस्व की वसूली हो। उसका किसानों के प्रति कोई लगाव नहीं होता था और न ही वह कृषि उत्पादन से संबंधित कोई कल्याणकारी योजनाओं के बारे में सोचता था। बस उसके दिमाग़ में एक ही बात रहती थी कि ज़्यादा से ज़्यादा भू-लगान की वसूली हो। हालांकि मुग़ल राज्य ने किसान के पक्ष में कुछ नियम भी बनाये थे जिससे मनसबदारों को किसानों पर ज़्यादतियां करने से रोका जा सके। मगर मनसबदारों की किसानों को लूटने की प्रवृति बढ़ती चली गयी और भू-लगान अधिकारी भी किसानों का साथ देने की बजाय मनसबदारों की तरफ़दारी करते थे। इसलिए किसानों की फ़रियाद मुग़ल दरबार में प्रभावहीन हो जाती थी। इससे किसानों में असंतोष बढ़ता ही चला गया। किसानों का असंतोष विद्रोहों में बदलने लगा। सन् 1668 में गोकुला जाट (तिलपत का ज़मींदार) के नेतृत्व में बड़ी संख्या में किसानों ने मथुरा के इलाक़े में विद्रोह कर दिया। किसानों ने मथुरा के मुग़ल नायक फ़ौजदार की हत्या कर दी थी। धीरे-धीरे यह विद्रोह दूसरे इलाक़ों में भी फैल गया। मेवात के इलाक़े में मेव किसानों ने भी विद्रोह कर दिया। नारनौल के आसपास के इलाक़ों में सन् 1675-76 के सतनामियों ने मुग़ल सत्ता को चुनौती देते हुए विद्रोह कर दिया। उधर

दक्खन में मराठों के भी मुग़ल सत्ता के ख़िलाफ़ विद्रोह शुरू हो गये। इसी तरह मुरादाबाद, गढ़ गंगा, हाथरस, सहारनपुर और हरिद्वार के इलाक़ों में भी किसानों ने विद्रोह कर दिये। मुग़ल राज्य इस तथ्य को समझने में असमर्थ रहा कि किसान विद्रोह क्यों कर रहे हैं? समस्या कहां पर है? मुग़ल राज्य ने मनसबदारों को इसके लिए ज़िम्मेदार मानने की बजाय किसानों को ही ज़िम्मेदार ठहराया। इसलिए किसानों के विद्रोहों को दबाने के अनेक तरह के क़दम उठाये गये। विद्रोही गांव व किसानों को 'ज़ोरतलब' बताकर उनके ख़िलाफ़ फ़ौजी कार्रवाई की गयी। मगर किसानों ने अलग-अलग तरीक़े अपना कर, राज्य को अपने असंतोष से अवगत कराया।

मुग़ल राजसत्ता निरंकुश थी, जिसकी पूरी शक्ति का केंद्र बिंदु मुग़ल बादशाह होता था। किसानों और मुग़ल बादशाह के बीच काम करने वाले व मुग़ल बादशाह को समझाने वाले अनेक एजेंट होते थे। यही कारण होता था कि मुग़ल बादशाह के पास किसानों की फ़रियादों को ठीक से नहीं बताया जाता था। जब किसानों को मुग़ल दरबार में न्याय नहीं मिलता था तब उनकी उम्मीदों का सब्र टूट जाता था और फिर उनके सामने बग़ावत के अलावा और कोई रास्ता बचता नहीं था। मुग़ल राज्य ने इस पर गंभीरता से विचार करने के अलावा और इसका समाधान खोजने की बजाय एक दूसरा रास्ता अपना लिया, वह था इज़ारा व्यवस्था लागू करना। अर्थात् जब किसानों के विद्रोह के कारण शाही मनसबदारों को अपनी-अपनी जागीरों का भू-राजस्व इकट्ठा करने में भारी परेशानियों का सामना करना पड़ता था तब उन्होंने अपनी जागीरों को इज़ारा में देना शुरू कर दिया। इज़ारा प्रथा एक तरह से ठेकेदारी प्रथा की तरह होती थी जिसमें इज़ारेदारों को किसानों से भू-लगान इकट्ठा करने का अधिकार दे दिया गया। ज़्यादातर इज़ारेदार वहीं के ही स्वबंस ज़मींदार या अधिकारी महाजन होते थे जिनकी उस इलाक़े में दबंगई होती थी। इज़ारा पाने वाले ज़्यादातर ज़मींदार वे लोग थे जो किसानों के विद्रोहों का संचालन कर रहे थे या महाजन वे लोग थे जो किसानों को तक़ावी स्वयं देते थे। अब ज़्यादातर मनसबदारों ने अपनी जागीरों को इज़ारा में देना शुरू कर दिया। दरअसल, इज़ारा व्यवस्था नियमित व्यवस्थित मुग़ल भू-राजस्व व्यवस्था का उल्लंघन था। किसानों के दृष्टिकोण से यह एक विनाशक व्यवस्था थी। मगर मुग़ल राज्य के लिए यह भूराजस्व इकट्ठा करने का आसान तरीक़ा था जिसमें मनसबदार अपनी जागीरों से भू-लगान इकट्ठा करने की ज़िम्मेदारियों से मुक्त थे क्योंकि अब किसानों से उनका कोई सीधा वास्ता नहीं रह गया था। भू-राजस्व इकट्ठा करने की सारी ज़िम्मेदारी इज़ारेदार की होती थी। आमतौर से इज़ारेदार अपने इलाक़े का दबंग होता था जिसके पास अपनी सैनिक टुकड़ियां व छोटे-छोटे क़िले भी होते थे, जिन्हें 'गढ़ी' बोला जाता था। किसानों से भू-लगान इकट्ठा करते समय वह अपना ख़र्चा भी भू-लगान के साथ जोड़ लेता था। अर्थात् मनसबदारों के भू-लगान की मांग पूरी करने के बाद वह अपना हक़ (ख़र्चा) भी किसानों से भू-लगान के साथ वसूल कर लेता था क्योंकि इज़ारेदार के अपने लोग होते थे जो किसानों से भू-लगान इकट्ठा करते थे। इज़ारेदार को उन्हें भी पैसा देना होता था। इसके अलावा इज़ारेदार किसानों से अलग से भी कुछ धन इकट्ठा करता था। इज़ारेदारों के लिए इज़ारा प्रथा एक लाभकारी सौदा था जिसको प्राप्त करने के लिए उन्हें शाही मनसबदारों को रिश्वत भी देनी पड़ती थी। अंततः इज़ारा व्यवस्था पर होने वाला सभी तरह का ख़र्च किसान से ही वसूला जाता था।

मुग़ल दरबार से लिखी गयी वकील रिपोर्टों के अनुसार इज़ारा व्यवस्था को, मुग़ल साम्राज्य के अधिकांश भू-भाग में, लागू किया गया। किसानों के विरोध के बावजूद भी यह व्यवस्था बलपूर्वक चलती रही। इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ अनेक इलाक़ों में किसानों ने राज्य के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी - जैसे मेवात, पूर्वी राजस्थान, मथुरा, आगरा का इलाक़ा, गंगा जमुना का इलाक़ा जिसमें कोल (अलीगढ़), मेरठ, हाथरस, मुरादाबाद और गढ़ गंगा के इलाक़ों में किसानों ने नयी इज़ारा व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया। हरिद्वार के इलाक़े में सभाचंद जाट के नेतृत्व में किसानों ने विद्रोह कर दिया। वकील रिपोर्ट के अनुसार पंजाब के इलाक़े कलानोर, बटाला, भट्ठा, रोपड़, संगरूर, सरहिंद और लाहौर में किसानों ने बंदा बहादुर के नेतृत्व में बग़ावत कर दी। मुग़ल बादशाह ने अब्दुल समद

ख़ान के नेतृत्व में शाही सेना को, पंजाब के किसानों को कुचलने के लिए भेजा। मुग़ल दरबार में रिपोर्ट आयी कि गुजरात में नर्मदा नदी के आसपास के अहीर किसानों ने वहां के मनसबदार के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दी है। उनको दबाने के लिए बादशाह से सहायता मांगी गयी। बंगाल सूबे के जहांगीराबाद के इलाक़े में किसानों ने इज़ारा प्रथा के तहत भू-लगान चुकाने से मना कर दिया। मालवा सूबे में मांडू के इलाक़े में किसानों ने इज़ारा प्रथा के तहत इज़ारेदार को भू-लगान चुकाने से मना कर दिया। आमेर राजा का वकील जगजीवन राम पचांली मुग़ल दरबार से अपने महाराजा को समय समय पर रिपोर्ट भेजकर सूचित करता है, जिनमें वह लिखता है कि अनेक जगहों पर किसानों व शाही फ़ौज के साथ लड़ाइयां हुई हैं, जिनमें बड़ी संख्या में किसान मारे गये। इसके बावजूद किसानों के विद्रोह कम नहीं हो रहे हैं। मेवात के इलाक़े में फ़ौज को देखकर किसान काला पहाड़ में छिप जाते हैं। मथुरा भरतपुर के इलाक़ों में जाट किसान चूड़ामन जाट के नेतृत्व में अनेक जगहों पर बने आमेर राजा के थानों को हटा दिया था। थूण, सिनसिणी, अंवार, सोगर और कठूंबर में जाटों ने अपनी मज़बूत गढ़ियां बना रखी हैं जहां पर जाट, मीणा व मेव किसान छिप जाते थे। हरिद्वार के इलाक़े में सभाचंद जाट को पकड़ने के लिए सेना भेजी जाती है, मगर ख़ाली हाथ लौटती है, क्योंकि सभाचंद जाट व उसके आदमी श्रीनगर के पहाड़ों में भाग कर छिप जाते हैं। वहां पर सरबुलंदख़ां की सेना ने हज़ारों किसानों को बंदी बना लिया है। पंजाब में गुरु बंदा बहादुर को पकड़ने के लिए अनेक बार सेनाएं भेजी गयीं, मगर गुरु कभी तो लाखी जंगल में छिप जाते हैं और कभी नाहन की पहाड़ियों में भाग जाते हैं। इस प्रकार किसानों और मनसबदारों की सेनाओं के बीच अनेक घटनाओं की चर्चा की है। वकील अपनी रिपोर्ट में यह भी लिखता है कि मनसबदार अपने-अपने इलाक़ों में किसानों को लुटवाते हैं।

आमीलों की रिपोर्ट के अनुसार मुग़ल दरबार में पटेलों की अगुवाई में अनेक परगनों के किसान फ़रियाद करने गये। किसानों का कहना होता है कि उनके गांव इज़ारा में न दिये जायें क्योंकि इज़ारेदार उनसे भू-लगान के अतिरिक्त तरह-तरह के दूसरे ऐसे करों की ज़बरन वसूली करते हैं जो उनसे पहले कभी नहीं लिये जाते थे। किसानों का कहना है कि इस प्रकार के करों की उगाही परंपरागत दस्तूरों का उल्लंघन है। इसलिए यह राजधर्म की मर्यादाओं का भी उल्लंघन है। वकील रिपोर्ट बताती है कि किस प्रकार इज़ारा प्रथा ने किसान को लाचार और बेबस बना दिया है। मराठा पेशवा माधोराव-1 ने अपनी डायरी में लिखा था कि महाराष्ट्र के कोंकण और देश के किसान इज़ारा प्रथा के कारण बर्बाद हो गये हैं, इसलिए मैं चाहता हूं कि इसे ख़त्म करके नियमित भू-लगान प्रथा को फिर से लागू किया जाये ताकि वे सुरक्षित महसूस कर सकें। आमेर राजा का वकील अपने महाराजा को इज़ारा के फ़ायदे बता रहा है कि इससे अनेक प्रकार की सुविधा और लाभ हैं। इस प्रथा के तहत राज्य प्रति वर्ष फ़सल (रबी और ख़रीफ़) इज़ारेदार से निर्धारित राशि ले लेता है और चिंता, दुविधा , हानि, आपत्तियां और फ़ायदा - ये सब इज़ारेदार के ज़िम्मे रहते हैं।

इस प्रकार इज़ारा प्रथा किसानों के दृष्टिकोण से एक बहुत ही अत्याचारी और विनाशक संस्था थी जिसने 17वीं सदी के उत्तरार्ध और 18वीं सदी के पूर्वार्ध में एक सुव्यवस्थित नियमित भू-राजस्व प्रणाली को हटाकर जगह ले ली थी। मगर राज्य के लिए यह एक आरामदायक व सुविधापरक तरीक़ा था जिसमें किसानों से भू-लगान वसूलने की पूरी ज़िम्मेदारी इज़ारेदार की होती थी। निस्संदेह इज़ारेदार भी इस प्रथा के तहत अपना अच्छा मुनाफ़ा कमाता था तभी तो यह प्रथा बहुत जल्दी से प्रचलन में आयी थी। किसानों के इस प्रथा के विरोध के तरीक़े केवल लड़ना मरना ही नहीं था बल्कि गांव के उजाड़ के बाद कहीं दूसरी जगह चले जाना और खेती लायक़ ज़मीन पर खेती न करना उसे बंजर छोड़ना, भू-लगान न चुकाना और पकी हुई फ़सल को काटकर चोरी करना आदि भी विरोध के तरीक़े थे। परगना अधिकारी आमील अपनी रिपोर्ट में लिखता है कि अलवर सरकार के अनेक परगनों में बहुत से गांव उजड़ गये हैं। परगना पहाड़ी में कुल 209 में से 100 गांव उजड़ गये हैं। परगना खोहरी के काफ़ी गांव के किसान थूण के क़िले में भाग गये हैं। परगना ब्याना में कुल 139 गांव जिनमें 33 गांव उजड़ गये हैं और 42 गांव ज़ोरतलब हैं अर्थात

42 गांव के किसानों ने भू-लगान चुकाने से मना कर दिया है। परगना गुढ़ा, लिवाली और लालसोट में किसान खड़ी फ़सल को काटकर ले जा रहे हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण राजस्थानी दस्तावेज़ों (अठसठा और अर्जदासत) में भरे पड़े हैं।

इज़ारा प्रथा का प्रभाव यह हुआ कि 18वीं सदी के पूर्वार्ध में कृषि उत्पादन में तेज़ी से गिरावट आयी। अनेक परगनों में गांव उजड़ने लगे। खेती लायक़ ज़मीन बंजर हो गयी। खेत चरागाहों में बदल गये क्योंकि किसानों को लगता था कि खेती करके भी उसे भूखा ही रहना है। इज़ारा प्रथा में भारी भू-लगान चुकाने के बाद परिवार के भरण-पोषण के लिए कुछ नहीं बचता था। इसलिए अनेक गांव के किसान गांवों को ख़ाली करके रोटी की तलाश में जहां उन्हें ठीक लगता था वहां चले जाते थे या फिर विद्रोही ज़मींदारों की गढ़ी या जंगल और पहाड़ों में छिप जाते थे। खेती न करने से कृषि उत्पादन पर बुरा असर पड़ा। मुग़ल साम्राज्य का वैभव, शासक वर्ग व अमीरों की शान-शौकत, शाही फ़ौज, नौकरशाही - सभी कृषि उपज की आमदनी पर निर्भर थे अर्थात् किसान की पैदावार से 40 से 50 प्रतिशत तक मुग़ल राज्य भू-राजस्व के रूप में लेता था जिस पर मुग़ल राज्य की अर्थव्यवस्था टिकी हुई थी। कृषि उत्पादन में गिरावट आने से मुग़ल राज्य को कृषि संकट का सामना करना पड़ा जिससे उसे एक भयंकर आर्थिक संकट झेलना पड़ा, अब भू-राजस्व बहुत कम मिलने लगा। मुग़ल राज्य के लिए इतनी बड़ी फ़ौज का रख-रखाव करना व कुलीन वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा करना मुश्किल हो गया। परिणामस्वरूप मुग़ल साम्राज्य बिखर गया।

मुग़ल राज्य को यह आभास नहीं हो रहा था कि जिस इज़ारा व्यवस्था को अपनी ज़िम्मेवारी से मुक्त होकर आरामदायक प्रथा के रूप में लागू कर रहा है वही उसकी जड़ों को खोखला भी कर रही है। इतिहासकारों का एक वर्ग इज़ारा व्यवस्था को किसानों के दृष्टिकोण से मूल्यांकन न करके इज़ारेदारों के दृष्टिकोण से देखते हैं। वे लोग इसे व्यापार व वाणिज्य को बढ़ाने के लिए पूंजी संचय के उदगम का रास्ता मानते हैं। मगर वे इस तथ्य को समझना नहीं चाहते कि जब इज़ारा व्यवस्था ने इतने शक्तिशाली विशाल मुग़ल साम्राज्य को निगल लिया तब व्यापारिक पूंजी संचय का सवाल कहां पैदा होता है? यह दलील भी ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार आज के शासक, नये कृषि कानूनों को, कृषकों के दृष्टिकोण से न समझकर उनके फ़ायदे की बात करते हैं।

भले ही आज किसानों का इतिहास शोध के लिए एक आकर्षण का केंद्र न रहा हो, मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय इतिहास का स्वरूप किसानों के संघर्षों की गाथाओं की विरासत है। राज्यों के निर्माण की प्रक्रियाएं किसानों के बग़ैर संभव नहीं थी। इसी के साथ साथ विभिन्न धर्मों व संस्कृतियों का भी विकास हुआ था। तभी त हिंदू धर्मशास्त्रों में राजधर्म और प्रजा धर्म जैसी अवधारणाओं पर ज़ोर दिया गया। इसलिए किसानों के बग़ैर जगत मिथ्या है। राजधर्म में राजा को अपनी प्रजा (किसान) के साथ पुत्रों जैसा व्यवहार करना चाहिए इसलिए न्यायप्रिय राजा की अवधारणा को उत्तम माना गया। यही कारण रहा है कि विक्रमादित्य जैसे न्यायप्रिय राजा की कहानियां किसानों में लोकप्रिय रही हैं। कौटिल्य ने भी इस बात पर ज़ोर दिया था कि राजा के मंत्री को किसानों के साथ अपना निवास बनाकर रहना चाहिए ताकि राज्य निष्पक्ष होकर उनकी समस्याओं का निराकरण कर सके। भारत में मुस्लिम शासकों ने भी किसानी पर ही पूरा ज़ोर दिया था। उनकी भारतीय जाति व्यवस्था, परंपराएं व रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने किसानी को इतना प्रोत्साहन दिया कि बड़े-बड़े जंगलों को खेतों में बदल दिया गया और वहां पर नये-नये गांव व क़स्बों का प्रसार हुआ जिससे व्यापार व वाणिज्य को भी बढ़ावा मिला। फ़िरोज़शाह तुग़लक का उदाहरण हमारे सामने है जिसने सिरसा से हांसी तक फैले बीहड़ जंगल को नहरों के जल से हरे-भरे खेतों में बदल दिया जिसके कारण वह इलाक़ा नये-नये गांवों व क़स्बों से भर गया। इस संबंध में जाट किसानों का इतिहास बहुत ही दिलचस्प है। मुस्लिम शासकों ने जाट किसानों को बसाने में व

प्रोत्साहन देने में बहुत योगदान दिया था। तभी तो लाहौर से लेकर आगरा तक जाट किसानों की बस्तियां इतनी ज़्यादा मिलती हैं। इसलिए किसानों का राजसत्ता के निर्माण में बहुत बड़ा योगदान रहा है। जैसे भारत में मुस्लिम राजसत्ता - दिल्ली सल्तनत से लेकर मुग़ल साम्राज्य के निर्माण में किसानों का योगदान अहम रहा है वैसे ही जोधपुर व बीकानेर राजपूत राज्यों के निर्माण में जाट किसानों का योगदान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। इसी तरह आमेर (जयपुर), कोटा व बूंदी राजपूत राज्यों के निर्माण में मीणा जाति के किसानों की भूमिका को इतिहास में दर्ज किया गया है। किसान ने अपनी कृषि पैदावार से शासकों की संपन्नता और उसकी सार्वभौमिक ताक़त को बढ़ाया है। इसके बदले में वह शासक से न्याय की उम्मीद करता है जो एक लोक कहावत से समझी जा सकती है :

दस चगें बैल देख, वा दसमन बेरी।
हक हिसाबी न्याय, वा साकसीर जोरी।।
भूरी भैंस का दूधा, वा राबड़ घोलणा।
इतना दे करतार, तो बाहिर ना बोलना।।

मो. 9968019358

औपनिवेशिक भारत में किसान आंदोलन: एक अवलोकन

राजेश कुमार

ब्रिटिश शासन की स्थापना ने भारतीय कृषक समाज के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन किये। औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के प्रसार का ग्रामीण समाज, विशेषकर कृषकों पर दूरगामी प्रभाव हुआ। ब्रिटिश शासन द्वारा लागू किये गये भू-राजस्व बंदोबस्त यथा- स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी बंदोबस्त तथा महालवारी बंदोबस्त के अंतर्गत भूमि में निजी स्वामित्व का सृजन किया गया जिससे भारतीय किसानों की स्थिति और रुतबे (status) पर प्रतिकूल असर पड़ा। कृषि के वाणिज्यीकरण से हालात और भी ख़राब हो गये। साहूकार अब कृषि उत्पादन-प्रक्रिया का अभिन्न संस्थान बन गये थे। भारतीय ग्रामीण समाज में आये इन परिवर्तनों के कारण किसानों का जीना मुश्किल हो गया था। परिणामस्वरूप औपनिवेशिक नीतियों के ख़िलाफ़ भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग तरह से असंतोष की आवाज़ें उठने लगीं।

1764 में ब्रिटिश हुकूमत द्वारा 'दीवानी' के अधिग्रहण (acquisition) के पश्चात बंगाल प्रांत की राजस्व व्यवस्था ब्रिटिश एजेंसियों के हाथ में आ गयी। वायसराय वारेन हेस्टिंग्स द्वारा शुरू की गयी 'फ़ार्मिंग व्यवस्था' के तहत किसानों पर मालगुज़ारी का बोझ बढ़ गया और ग़ैर-क़ानूनी करों (illegal taxes) की भी वसूली होने लगी। किसानों के लिए जीवन निर्वाह की समस्या उत्पन्न हो गयी थी। परिणामतः उन्होंने प्रतिरोध करना आरंभ कर दिया। 1783 में बंगाल के रंगपुर और दीनाजपुर ज़िलों के किसानों ने स्थानीय मालगुज़ार देवी सिंह तथा गंगागोविंद सिंह के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसे ब्रिटिश सेना द्वारा कुचल दिया गया।[1] 1830-31 के दौरान दक्षिण भारत में मालगुज़ारी की दर में हो रही लगातार वृद्धि एवं अवैध करों के विरुद्ध किसानों ने विद्रोह कर दिया, किंतु ब्रिटिश सेना द्वारा इसे भी दबा दिया गया।[2]

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध एवं उन्नीसवीं सदी के आरंभ में औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के दमनकारी स्वरूप के विरुद्ध कृषकों में असंतोष काफ़ी बढ़ गया, जिसके परिणामस्वरूप 1763-1800 के दौरान बंगाल और बिहार में 'संन्यासी और फ़कीर' विद्रोह हुए। बंगाल में 1831 में तितु मीर के नेतृत्व में 'तरीक़ा-ए-मुहम्मदिया' आंदोलन, हाजी शरीअतुल्लाह के नेतृत्व में बंगाल में 1830 के दशक में हुआ 'फरिज़ी' आंदोलन, मालबार में 1840-50 के दशक का 'मापिला' आंदोलन वस्तुतः कृषकों में बढ़ते असंतोष का परिणाम था।

जनजातीय क्षेत्रों में ब्रिटिश राज की घुसपैठ ने जनजातियों की 'राजनीतिक स्वायत्तता' की अवधारणा को नष्ट कर दिया। अंग्रेज़ों द्वारा स्थानीय संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की जाने लगी। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के जनजातीय समुदायों ने अंग्रेज़ों के इन प्रयासों के विरुद्ध प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। जनजातियों द्वारा किये गये विद्रोहों में ख़ानदेश और मराठा क्षेत्र का 'भील विद्रोह' (1819-31), बिहार एवं उड़ीसा का 'कोल विद्रोह' (1831-32), संथालियों का 'हूल विद्रोह' (1855-56) आदि प्रमुख हैं। इन विद्रोहों ने 1857-58 के महान विद्रोह की पृष्ठभूमि रखी, जिसने भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े हिस्से को प्रभावित किया। हालांकि 1857 के विद्रोह में अंतर्निहित कारक अत्यंत जटिल थे लेकिन व्यापक कृषक असंतोष ने उत्तरी, मध्य और पूर्वी भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में इसे एक लोकप्रिय जन विद्रोह बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1857 के विद्रोह को किसानों

के उपनिवेशविरोधी प्रतिरोध के लंबे संघर्ष का महत्वपूर्ण पड़ाव माना जाना चाहिए।

1857 के पश्चात हुए सर्वाधिक प्रभावशाली आंदोलनों में बंगाल का 'नील विद्रोह' प्रमुख था। यूरोपीय बाग़ान मालिकों द्वारा किसानों को बाज़ार से कम क़ीमत पर नील उत्पादन करने के लिए विवश करने की कोशिश की गयी। 1859-60 के दौरान किसानों ने नील की खेती का ज़बरदस्त विरोध किया और संगठित होकर सामूहिक तौर पर नील की खेती बंद कर दी।[3] प्रतिक्रियास्वरूप यूरोपीय बाग़ान मालिकों ने भूमि अधिकारों का मनमाना इस्तेमाल करके किसानों पर इस बात का दबाव बनाया कि वे 'नील आंदोलन' ख़त्म करें अन्यथा उन्हें ज़मीन से बेदख़ल कर दिया जायेगा। किसानों ने लगानबंदी अभियान (no rent campaign) चलाया तथा भूमि बेदख़ली का ज़बरदस्त विरोध किया। 1860 में प्रकाशित *दीनबंधु मित्र* के बंगाली नाटक, *नील दर्पण* में किसानों की पीड़ा और दयनीय अवस्था को दर्शाया गया है। 1860 में गठित नील आयोग द्वारा बंगाल के किसानों को थोड़ी राहत मिली, पर यूरोपीय बाग़ान मालिकों ने बंगाल की बजाय अब नये क्षेत्र, उत्तर प्रदेश और बिहार को नील की खेती के लिए अपना लिया। बंगाल की भांति ही इन क्षेत्रों में भी यूरोपीय बाग़ान मालिकों ने शोषण एवं दमन की प्रक्रिया जारी रखी। परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश एवं बिहार के किसानों में भारी असंतोष विकसित हुआ। इसी क्रम में बिहार के चंपारण ज़िले में गांधी जी का आगमन हुआ जो ऐतिहासिक सिद्ध हुआ।

दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारत में लागू रैयतवारी बंदोबस्त के कारण साहूकारों की आर्थिक सहायता (ऋण) के बिना, कृषकों के लिए लगान की अदायगी करना कठिन हो गया था। समय पर लगान की अदायगी न होने की स्थिति में लगान पुनर्निर्धारण (periodical revision of rent) तथा नये भू-स्वामित्व अधिकार जैसे प्रावधानों ने किसानों को अपनी ज़मीन गिरवी रखने या बेचने को विवश कर दिया। परिणामस्वरूप किसान और साहूकार (जो अधिकांशतः बाहरी होते थे) के आपसी संबंध तनावपूर्ण हो गये। महाराष्ट्र में कृषक असंतोष का मुख्य कारण सरकार द्वारा बढ़ायी गयी मालगुज़ारी दरों में संशोधन की मांग को अस्वीकार किया जाना था। वस्तुस्थिति यह थी कि अमेरिकी गृह युद्ध की समाप्ति के बाद दक्कन में कपास की खेती में आयी तेज़ी का दौर ख़त्म हो गया। 1875 में महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर ज़िलों में विद्रोह (बंद) और 'दंगे' भड़क गये। आंदोलन के दौरान किसानों ने साहूकारों का सामाजिक बहिष्कार किया और इस दौरान 'अनाज दंगे' भी हुए। ग़ौरतलब है कि साहूकारों के ख़िलाफ़ हिंसा की कोई घटना नहीं हुई, केवल उनके ऋण पत्रों को नष्ट किया गया।[4] ब्रिटिश सरकार द्वारा 1879 में पारित 'दक्कन खेतिहर राहत क़ानून' (Deccan Agriculturalists Relief Act) से किसानों को कुछ राहत मिली और इस क्षेत्र में शांति बहाल हुई।

बहरहाल, ब्रिटिश शासन और उनके एजेंटों के ख़िलाफ़ विद्रोह की परंपरा जनजातीय किसानों के बीच क़ायम रही। इस परंपरा का एक प्रमुख उदाहरण मुंडा उल्गुलान था जिसका नेतृत्व बिरसा मुंडा(1899-1900) ने किया। औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत 1899 के क्रिसमस के दौरान हुई और इसके अंतर्गत गिरजाघरों, मंदिरों, पुलिसकर्मियों और ब्रिटिश शासन के अन्य प्रतीकों को निशाना बनाया गया। ब्रिटिश शासन ने इस आंदोलन को भी कुचल दिया। इस आंदोलन का उद्देश्य न केवल *'दिकुओं'* ' (बाहरी तत्वों) को भगाना था बल्कि 'अपने दुश्मनों को नष्ट करना और ब्रिटिश राज को समाप्त करना तथा इसके स्थान पर बिरसा राज और बिरसाई धर्म की स्थापना करना था।' [5]

भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हुए इन विद्रोहों में किसानों की समस्याओं एवं पीड़ाओं की अभिव्यक्ति हुई थी। आदिवासियों को यह अहसास हो गया था कि भू-राजस्व नीतियों और कृषि के वाणिज्यीकरण के कारण उनके जीवन निर्वाह स्तर तथा पारंपरिक कृषक संबंधों में बाधा आ रही है। रणजीत गुहा के अनुसार,

'ज़मींदार, साहूकार और राज्य... ने किसानों पर प्रभुत्व का एक समग्र तंत्र विकसित कर लिया था।' [6]

प्रतिरोध की इस प्रक्रिया में किसान अपनी समस्याओं के स्रोत - ज़मींदार, साहूकार और ब्रिटिश राज के प्रति जागरूक हो गये थे। ब्रिटिश राज द्वारा स्थानीय एजेंटों का बचाव किया जाता था।[7] साहूकार के आदमियों के ख़िलाफ़ हिंसा की घटनाएं न के बराबर होती थीं, केवल उनके ऋण पत्र (बॉन्ड) ज़ब्त कर लिये जाते थे। इन आंदोलनों में लक्ष्य अर्थात उत्पीड़न एवं नियंत्रण की एजेंसियों तथा सत्ता-संबंधों के नये संस्थागत ढांचे जिनके बीच किसान स्वयं को उलझा हुआ पाते थे, को लेकर स्पष्टता दिखायी देती है।[8] इन कृषक विद्रोहों का नेतृत्व किसानों या आदिवासियों के भीतर से ही आया और उनकी लामबंदी सामुदायिक आधारों पर हुई।[9] यही नहीं, वर्ग-चेतना और वर्ग-विचारधारा के अभाव में धर्म ने विचारधारा प्रदान की। धार्मिक नेताओं और 'पवित्र गुरुओं' ने किसानों की चिंताओं और समस्याओं को धार्मिक भाषा में अभिव्यक्त किया और इस प्रकार उनके आंदोलन को मान्यता मिली।

फिर भी ये आंदोलन स्थानीयता एवं अलगाव के शिकार रहे। ब्रिटिश राज के आधिपत्य, शोषणकारी आर्थिक नीतियों, कृषक समाज में घुसपैठ इत्यादि के विरुद्ध सशक्त प्रतिरोध के बावजूद ये आंदोलन ब्रिटिश शासन को गंभीर चुनौती देने में सफल नहीं हुए। हालांकि इन आंदोलनों ने शोषण के कारणों/एजेंसियों/संस्थाओं को लेकर जागरूकता ज़रूर दिखायी लेकिन यह पर्याप्त नहीं था। बुद्धिजीवियों एवं राष्ट्रवादी नेताओं की इन आंदोलनों में भागीदारी के साथ कृषक आंदोलनों को एक स्पष्ट दिशा प्राप्त हुई और ये स्थानीय और छिटपुट प्रकृति के कृषक व आदिवासी आंदोलन भारत में अंग्रेज़ी औपनिवेशिक शासन के ख़िलाफ़ व्यापक संघर्ष से जुड़ गये। बीसवीं शताब्दी में विशेष रूप से गांधी के आगमन के साथ किसान आंदोलनों ने कृषक सामाजिक संरचनाओं की जटिलताओं एवं संबंधों की स्पष्ट समझ विकसित की और ये भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न हिस्सा बन गये।

चंपारण (बिहार) एवं खेड़ा (गुजरात) में चल रहे किसान आंदोलनों के साथ गांधी के जुड़ाव ने भारतीय राजनीति की मुख्यधारा में गांधी को स्थापित कर दिया। 1860 के दशक से ही चंपारण में यूरोपीय बाग़ान मालिकों द्वारा 'तिनकठिया प्रणाली' के तहत नील उत्पादन करने के लिए विवश करने के विरुद्ध किसान आंदोलन कर रहे थे। ब्रिटिश सरकार के दमनकारी रवैये के बावजूद किसानों का यह प्रतिरोध बीसवीं सदी के आरंभ में बढ़ता गया। एक स्थानीय कृषक नेता राजकुमार शुक्ल के अनुरोध पर गांधी चंपारण पहुंचे और वहां उन्होंने किसानों की शिकायतों की जांच की। नील की खेती के विरुद्ध चल रहे आंदोलन को गांधी ने एक नयी ऊर्जा प्रदान की। इस आंदोलन के दबाव के चलते लेफ़्टिनेंट गर्वनर ने एक जांच समिति का गठन किया तथा गांधी को भी इसका सदस्य बनाया। अंततः चंपारण कृषि अधिनियम 1918 (Champaran Agrarian Act 1918) पारित हुआ। इसके द्वारा 'तिनकठिया प्रणाली' को निरस्त कर दिया गया और नील की खेती के अनुबंध से मुक्त करने के बदले लिये जा रहे लगान की दर को भी कम कर दिया गया।[10]

ग़ौरतलब यह है कि 'चंपारण आंदोलन' यूरोपीय बाग़ान मालिकों तक ही सीमित रहा और स्थानीय शोषणकारी एजेंसियां इसकी परिधि से बाहर रहीं। साथ ही ग़रीब किसानों एवं भूमिहीन कृषक मज़दूरों की समस्याओं के प्रति यह आंदोलन उदासीन रहा।[10] परिणामतः नये कृषि अधिनियम के प्रति किसानों का असंतोष बरक़रार रहा और किसानों ने लगान की अदायगी के साथ-साथ ज़िलों में चल रहे सर्वे एवं सेट्लमेंट्स के कार्य में अधिकारियों को सहयोग देने से इनकार कर दिया।[11] इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखने योग्य है कि दरभंगा राज की लगान मांगों एवं उनके अमलों द्वारा किये जा रहे किसानों के उत्पीड़न के विरुद्ध किसानों में असंतोष था जिसके परिणामस्वरूप स्वामी विद्यानंद के नेतृत्व में एक शक्तिशाली किसान आंदोलन हुआ।[12]

गुजरात के खेड़ा ज़िले में वर्षा में हुई देरी के कारण हुए फ़सलों के नुक़सान, मुद्रास्फीति की उच्च दर,

प्लेग महामारी आदि ने किसानों के लिए असामान्य स्थितियां उत्पन्न कर दी थीं। इस व्यापक असंतोष के कारण स्थानीय किसान नेताओं- मोहनलाल पांड्या और शंकरलाल पारिख के नेतृत्व में लगानबंदी आंदोलन शुरू हुआ। स्थानीय नेताओं ने गांधी से संपर्क किया और गांधी ने मार्च 1918 में 'सत्याग्रह' आरंभ करने की योजना बनायी। दबाव को देखते हुए अप्रैल 1918 तक बंबई सरकार ने किसानों की मांगों को अंशतः मान लिया।[13]

हालांकि, आरंभिक गांधीवादी आंदोलन स्थानीय स्वरूप के थे और सफलताएं भी आंशिक ही थीं लेकिन अपनी समस्याओं के कारणों तथा स्त्रोतों के प्रति किसानों की जागरूकता को एक नयी दिशा देने में ये प्रभावशाली रहे। आत्मविश्वास में वृद्धि के साथ किसान शोषणकारी एजेंसियों का प्रतिरोध करने लगे, भले ही ये एजेंसियां स्थानीय ज़मींदार ही क्यों न हों। किसान आंदोलनों के इस नये स्वरूप ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में एक जटिल स्थिति उत्पन्न कर दी।

सामाजिक समरसता तथा आपसी सहमति व समझौते की गांधीवादी अवधारणा कृषक समस्याओं के समाधान के लिए मार्गदर्शक सिद्धांत थीं।[14] कांग्रेस एक बहुहित वाली साम्राज्यवादविरोधी मोर्चा थी जिसकी एकता बनाये रखने के लिए वर्ग सद्भाव का होना आवश्यक था। ज़मींदारों एवं किसानों के हित परस्परविरोधी थे तथा यह देखते हुए भी कि शोषकों के वर्ग में स्थानीय ज़मींदार भी शामिल थे, कांग्रेस ने कभी वर्ग-आधारित मांगों से संबंधित किसानों के संघर्षों का विरोध नहीं किया था। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस की यह समझ थी कि आंतरिक शोषकों के ख़िलाफ़ शारीरिक हिंसा अथवा उनके वर्ग-परिसमापन जैसी मांग किये बग़ैर वर्गसंघर्ष को समायोजित और ग़ैरविरोधी तरीक़े से निर्देशित किया जाना चाहिए।[16] कांग्रेस के इस दृष्टिकोण ने राष्ट्रीय आंदोलन और विशेष रूप से किसान आंदोलनों की दिशा को प्रभावित किया।

बिहार में, नवंबर 1933 में स्वामी सहजानंद सरस्वती (सहजानंद) के नेतृत्व में 'बिहार प्रांतीय किसान सभा' (BPKS) का गठन किया गया। संन्यासी से जाति-सुधारक (भूमिहार ब्राह्मण महासभा) बने सहजानंद बिहार और भारत के प्रभावशाली किसान नेताओं में गिने जाते थे। सहजानंद के नेतृत्व में 'बिहार प्रांतीय किसान सभा' ने बिहार काश्तकारी संशोधन बिल (Bihar Tenancy Amendment Bill) 1929 के विरुद्ध एक शक्तिशाली किसान आंदोलन खड़ा किया था। 'बिहार प्रांतीय किसान सभा' ने व्यापक प्रचार तथा बैठकों के माध्यम से बिहार के किसानों को संगठित किया। शीर्षस्थ राष्ट्रीय नेताओं ने भी इन सम्मेलनों में भाग लिया तथा किसानों को संबोधित किया। ब्रिटिश सरकार को मजबूरन इस किसानहित विरोधी बिल को वापस लेना पड़ा। इस संदर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि 1929 के अंतिम महीनों में सरदार पटेल ने बिहार का दौरा किया तथा किसान सम्मेलनों को संबोधित करते हुए न सिर्फ़ किसानों की समस्याओं पर प्रकाश डाला, बल्कि ज़मींदारों के अस्तित्व और उनकी भूमिका को चुनौती भी दी।[17]

सविनय अवज्ञा आंदोलन में किसानों की भागीदारी बड़े पैमाने पर रही। हालांकि बिहार में इस आंदोलन का प्रभाव उतना गहरा नहीं था जितना कि उत्तर प्रदेश में। नेहरू के प्रभाव में उत्तर प्रदेश कांग्रेस ने किसानों से आह्वान किया कि वे भूराजस्व और लगान की अदायगी न करें। उत्तर प्रदेश कांग्रेस के इस उग्र कार्यक्रम ने सरकार को लगान की दर घटाकर 1901 के स्तर पर लाने को विवश कर दिया।[18] ग़ौरतलब है कि बिहार और उत्तर प्रदेश की कृषक सामाजिक संरचना और वर्ग संबंधों में काफ़ी समानता थी, लेकिन बिहार कांग्रेस नेतृत्व के उच्च्च वर्ग तथा ज़मींदार चरित्र ने ऐसे किसी भी प्रगतिशील कार्यक्रम को स्वीकृति नहीं दी जो ज़मींदारों के हितों के परस्पर विरोधी थे।[19]

बिहार कांग्रेस नेतृत्व की इन कमज़ोरियों की समझ ने किसान आंदोलन के प्रति सहजानंद के दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल दिया। सहजानंद अब किसानों के संघर्ष को 'वर्ग सहयोगी' की बजाय 'वर्गसंघर्ष' के रूप में

आगे बढ़ाने के बारे में सोचने लगे। 1934 में सहजानंद ने स्वयं स्वीकार किया कि 'मैं ज़मींदारी तंत्र की संवेदनहीन कार्यप्रणाली का पर्याप्त अनुभव ले चुका हूं।...गुलामी और उत्पीड़न से त्रस्त जनता की मुक्ति के एकमात्र उपाय के रूप में वर्गसंघर्ष पर मैंने गंभीरता से सोचना शुरू किया।'[20] इस अहसास ने सहजानंद को समाजवादियों के सिद्धांतों एवं कार्यक्रमों के प्रति आकर्षित किया।

समाजवादी नेताओं के प्रभाव से किसान आंदोलन को एक नया आयाम मिला। नवंबर 1935 में बिहार प्रांतीय किसान सभा ने ज़मीदारी उन्मूलन से संबंधित प्रस्ताव पारित कर दिया। परिणामतः 1936-1939 के दौरान बिहार में किसान आंदोलन के सर्वाधिक सक्रिय तथा उग्र चरण का आरंभ हुआ। बिहार के विभिन्न ज़िलों में सहजानंद तथा अन्य किसान नेताओं के नेतृत्व में जोतेदारों ने अपनी खोयी हुई ज़मीन की वापसी के लिए 'बकाश्त सत्याग्रह' का आरंभ हुआ। कार्यानंद शर्मा के नेतृत्व में बड़हिया टाल(मुंगेर जिला), यदुनंदन शर्मा के नेतृत्व में रेवरा, मझियावा(गया), राहुल सांकृत्यायन के नेतृत्व में अमवारी, छितौली (सारण)में बकाश्त सत्याग्रह हुए।[21]

भारत के अन्य क्षेत्रों में भी किसान आंदोलन ज़ोर पकड़ रहा था। मध्य आंध्र के ज़िलों में एन.जी. रंगा के नेतृत्व में एल्लोर के ज़मींदारी रैयत सम्मेलन में ज़मींदारी उन्मूलन की मांग की गयी। एन.जी. रंगा तथा ई .एम.एस. नंबूदिरीपाद ने 1935 में मद्रास प्रेसीडेंसी में किसान आंदोलनों के प्रसार के लिए 'दक्षिण भारतीय किसान-खेत मज़दूर संघ' का गठन किया। उड़ीसा में 'उत्कल किसान संघ' ने तटवर्ती कटक, पुरी और बालासोर ज़िलों में उग्र आंदोलन आरंभ किये तथा 1935 में ज़मींदारी उन्मूलन से संबंधित प्रस्ताव पारित किया। इन उग्र आंदोलनों के प्रभावस्वरूप 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का गठन किया गया तथा सहजानंद इसके पहले अध्यक्ष बने। अखिल भारतीय किसान सभा के किसान घोषणा-पत्र (अगस्त 1936) में ज़मींदारी उन्मूलन, कृषि आय पर आरोही कर, सभी असामियों के लिए दख़लदारी के अधिकार तथा ब्याज दरों और ऋणों में कमी की मांग रखी गयी।[22]

1940 के दशक में कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रभाव में किसान आंदोलनों में एक नये आयाम का विकास हुआ। 'बंगाल-अकाल' ने किसानों को कष्टप्रद स्थिति में पहुंचा दिया तथा ब्रिटिश सरकार की ख़रीद नीति ने उनकी समस्याओं को और अधिक बढ़ा दिया। ब्रिटिश सरकार तथा स्थानीय समितियों के राहत प्रयासों ने ग्रामीण जनता और किसानों के साथ भेदभाव किया। कम्युनिस्टों ने इस स्थिति का विरोध किया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में राहत उपलब्ध कराने के लिए प्रभावी कार्यक्रमों का संचालन किया। इन राहत प्रयासों ने कम्युनिस्टों को ग़रीब किसानों और बटाईदारों (बरगादारों) में लोकप्रिय बनाया और साथ ही कम्युनिस्ट, बंगाल प्रांतीय किसान सभा में भी प्रभावशाली हुए।[23] कम्युनिस्टों के प्रभाव में, बंगाल प्रांतीय किसान सभा ने तिभागा पर 'फ्लाउड आयोग' की सिफ़ारिशों को लागू करने के लिए सितंबर 1946 में तिभागा आंदोलन आरंभ किया। जोतेदारों से किराये पर ली गयी ज़मीन पर काम करने वाले बटाईदार (बरगादारों) के लिए आधी या उससे भी कम फ़सल के बदले दो तिहाई फ़सल की मांग तिभागा आंदोलन की प्रमुख मांगें थीं।[24] बंगाल के हर ज़िले में किसान आंदोलन सक्रिय था, जहां किसानों ने तिभागा इलाक़ा घोषित किया और वैकल्पिक प्रशासन और मध्यस्थता के लिए अदालतों का गठन किया। 1947 के बरगादार बिल (जिसे कभी लागू ही नहीं किया गया) तथा ब्रिटिश सरकार के दमनकारी क़दम ने तिभागा आंदोलन को कमज़ोर कर दिया।[25] द्वितीय युद्ध के पश्चात भारत में बड़े पैमाने पर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध जनआंदोलन हुए। इस क्रम में त्रावणकोर (पुन्नप्रा-वायलर) तथा हैदराबाद रजवाड़े का तेलंगाना आंदोलन उल्लेखनीय है।

हैदराबाद के तेलंगाना क्षेत्र में 1946 के मध्य से कम्युनिस्ट नेतृत्व में एक शक्तिशाली एवं संगठित आंदोलन आरंभ हुआ। इस क्षेत्र के कृषक सामाजिक संबंधों को निरूपित करने में जागीरदारों, पट्टेदारों(भूस्वामियों), देशमुखों तथा देशपांडेयों(लगान संग्रहकर्ता) तथा साहूकारों की वर्चस्वता के साथ भूमि पर कब्ज़े की घटनाओं एवं

खेत मज़दूरों की संख्या में बढ़ोतरी आदि ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मूल्यों में गिरावट जारी रहने के कारण छोटे भूस्वामी पट्टेदार और धनी किसान प्रभावित हुए, जबकि ग़रीब किसान बेगार(वेट्टी) तथा अनाज-अभाव से त्रस्त थे। परिणामस्वरूप, जुलाई 1946 में नालगोंडा ज़िले में तेलंगाना आंदोलन प्रारंभ हुआ। मज़दूरी में वृद्धि, वेट्टी की समाप्ति, ग़ैरक़ानूनी वसूली एवं बेदख़ली पर रोक, अनाज लेवी को समाप्त करना इत्यादि इस आंदोलन की मुख्य मांगें थीं।[26]

जुलाई 1947 में हैदराबाद के निज़ाम ने घोषणा की कि ब्रिटिशों के जाने के बाद भी हैदराबाद अपनी स्वतंत्रता क़ायम रखेगा। इस घोषणा के विरुद्ध स्थानीय कांग्रेस ने सत्याग्रह करने का निर्णय लिया तथा आंतरिक मतभेदों के बावजूद कम्युनिस्ट इस सत्याग्रह में शामिल हुए। हालांकि यह संयुक्त मोर्चा अल्पकालीन रहा। इस बीच अल्पसंख्यक मुस्लिम कुलीनों के संगठन मजलिस इत्तेहादुल-मुसलमीन ने रज़ाकारों का एक हथियारबंद दस्ता बना लिया तथा जिसने निज़ाम के समर्थन से आतंक-राज क़ायम कर लिया।[27]

किसानों ने रज़ाकारों के दमन का विरोध करने के लिए *'दलम'* (छापामार दस्ता) का गठन किया। उनके कार्यक्रम में बड़े ज़मींदारों की परती और अधिशेष भूमि पर कब्ज़ा और उनका पुनर्वितरण तथा मुक्त समझे जा रहे क्षेत्रों में ग्राम गणराज्य या 'सोवियतों' का गठन, इत्यादि शामिल था। अंततः 13 सितंबर 1948 को भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश कर निज़ाम की योजना को विफल कर दिया तथा रज़ाकारों को समर्पण करने को विवश कर दिया। आंतरिक मतभेदों के बावजूद कम्युनिस्टों के द्वारा आंदोलन जारी रखने के निर्णय के साथ ही तेलंगाना आंदोलन ने अपने दूसरे चरण में प्रवेश किया। इस बीच भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामारों के विरुद्ध 'पुलिस कार्रवाई' शुरू कर दी और अंततः अक्टूबर 1951 में इस आंदोलन को वापस ले लिया गया।[28]

किसान आंदोलनों के पुनरावलोकन से यह स्पष्ट होता है कि स्थापित सत्ता के ख़िलाफ़ असंतोष शुरुआती और ख़ासकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के किसान आंदोलनों की सामान्य विशेषता थी। यद्यपि सीमित अर्थों में ही सही, किसानों के शोषण के कारणों और ऐसा करने वाली संस्थाओं की पहचान करने वाली चेतना को चिन्हित किया जा सकता है। इन आंदोलनों को निकट से देखने पर पता चलता है कि जाति और धर्म ने इनको संगठित एवं लामबंद करने में प्रभावी भूमिका निभायी, लेकिन किसान आंदोलनों की मांगों एवं कार्यक्रमों पर इनका बहुत कम प्रभाव पड़ा। किसान आंदोलनों के केंद्र में मुख्यतः किसानों की व्यथा ही रही। बीसवीं शताब्दी में जो किसान आंदोलन उभरे उनमें एक नयी विशेषता को रेखांकित किया जा सकता है और वह है, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध चलने वाले राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित होने और प्रभावित करने की प्रवृत्ति। क्षेत्रीय किसान नेताओं के उदय और नये विचारों के प्रभाव के परिणामस्वरूप कई बार किसानों से जुड़े मुद्दों और मांगों को लेकर वर्ग-आधारित समानांतर आंदोलन विकसित हुए। हालांकि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध चल रहे शक्तिशाली और एकीकृत राष्ट्रीय आंदोलन के व्यापक हित में इन विसंगतियों को जल्द सुलझा लिया गया।

मो. 9871668338

संदर्भ:

1. शेखर बंद्योपाध्याय , *फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन, ओरिएंट ब्लैकस्वान*, न्यू दिल्ली, पृष्ठ 160-161
2. बंद्योपाध्याय , *फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन*, पृष्ठ 161
3. वही, पृष्ठ 192-194
4. वही, पृष्ठ 195-198
5. वही, पृष्ठ 200
6. रणजीत गुहा, *एलमेन्ट्री आस्पेक्ट ऑफ पीज़ेन्ट इर्न्सजेंसीज़ इन कालोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1994, पृष्ठ -8
7. बंद्योपाध्याय , *फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन*, पृष्ठ 167

8. वही, पृष्ठ 197-98
9. वही, पृष्ठ 167
10. स्टीफन हेन्निंघम, *पीजेन्ट मूवमेन्ट्स इन कॉलोनियल इंडिया*, नॉर्थ बिहार: 1917-1942, ऑस्ट्रेलियन यूनिवर्सिटी, 1982, पृष्ठ 47-49
11. अरविंद एन. दास, *एग्रेरियन अनरेस्ट एंड सोसियो-इकॉनोमिक चेंज इन बिहार*, 1900-1980, मनोहर, न्यू दिल्ली, 1983 पृष्ठ 59
12. स्टीफ़न हेन्निंघम, *पेजेंट्स मूवमेंट इन कोलोनियल इंडिया,* पृष्ठ 50
13. स्टीफ़न हेन्निंघम *'एग्रेरियन रिलेशन इन नॉर्थ बिहार: पीजेन्ट प्रोटेस्ट एंड दी दरभंगा राज, 1919-1920', इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, वाल्यूम XVI नंबर 1, जनवरी-मार्च, 1979, पृष्ठ 58
14. बंद्योपाध्याय , *फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन*, पृष्ठ 294
15. राजेन्द्र प्रसाद, *ऑटोबायोग्राफ़ी,* पिंगविन, नयी दिल्ली 2010, पृष्ठ 444
16. बिपन चंद्रा, '*दी लांग टर्म डायनामिक्स ऑफ़ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, जेनरल,* प्रेसीडेंसियल एड्रेस, प्रोसिडिंग्स ऑफ़ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, 46वां सत्र, 1985, पृष्ठ 62
17. स्वामी सहजानंद सरस्वती, *मेरा जीवन संघर्ष*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस लिमिटेड, न्यू दिल्ली, 1985, पृष्ठ 207-208
18. अरविंद एन. दास, *एग्रेरियन अनरेस्ट एंड सोसियो-इकॉनोमिक चेंज इन बिहार, 1900-1980,* मनोहर, न्यू दिल्ली, 1983, पृष्ठ 118-119
19. वाल्टर हाऊसर, *दि बिहार प्रोविंसियल किसान सभा, 1929-1942: ए स्टडी ऑफ़ एन इंडियन पिजेन्ट मूवमेन्ट*, अनपब्लिशड थीसिस', यूनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो, 1961, पृष्ठ 48-55
20. स्वामी सहजानंद सरस्वती, *दि ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ़ दि किसान मूवमेन्ट्स*, सीताराम आश्रम, पटना ,माइक्रोफ़िल्म, नेहरू मेमोरियल एंड लाइब्रेरी, नयी दिल्ली, पृष्ठ, 10-11
21. सहजानंद, *मेरा जीवन संघर्ष,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985
22. बंद्योपाध्याय , *फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन*, पृष्ठ 407
23. वही, पृष्ठ 431-432
24. सुमित सरकार, *मॉर्डन इंडिया: 1885-1947*, मैक्मिलन, न्यू दिल्ली, 1983, पृष्ठ -439
25. वही, पृष्ठ 433
26. वही , पृष्ठ 436
27. वही, पृष्ठ 436-437
28. वही, पृष्ठ 437

पंजाबी कहानी

शुरू से...

कुलवंत सिंह विर्क

(ऐतिआणा लुधियाना का एक गांव है, जहां 1950 के दशक में सरकार के 'ख़ुशहैसियती' टैक्स के विरोध में हुए आंदोलन द्वारा एक ऐतिहासिक और संघर्षपूर्ण इतिहास लिखा गया। इस आंदोलन के समर्थन की अगुवाई 'पंजाब किसान सभा' ने की थी जिसमें कई बड़े किसान नेता जैसे जगजीत सिंह लायलपुरी, हरकिशन सिंह सुरजीत, सोहन सिंह जोश, बाबा करमसिंह चीमा, बाबा गुरमुख सिंह आदि शामिल हुए थे। सरकार ने आंदोलनकारियों के ऊपर गोलियां चलायी थीं और कई स्त्री-पुरुष शहीद हो गये थे। इसी घटना से प्रेरित होकर पंजाबी के शीर्ष कहानीकार कुलवंत सिंह विर्क ने यह कहानी लिखी थी- बलवंत कौर)

अख़बार में ख़बर छपी थी कि पुलिस ने गांव में गोली चला दी। बताये जाते हैं चार लोग मरे । कुछ जख़्मी हुए। मरने वालों में एक बूढ़ी महिला भी थी। झगड़ा मामले(टैक्स) की वसूली का था । सरकार कहती थी कि जो मामला बढ़ाकर लगाया गया था, अभी ही वसूलना है। गांव के लोग अधिक मामला देने के लिए तैयार नहीं थे। अख़बार में छपा था कि जब तहसीलदार पुलिस को लेकर मामला वसूली के लिए गांव गया था, गांव वाले उस पर धावा बोलने आ गये। उन पर पुलिस तथा तहसीलदार ने अपने बचाव में गोली चला दी।

मेरे लिए यह नयी सी बात थी।

गोली चलने के बारे में पहले भी सुना था। जलूसों पर, शहर में, सड़क पर या किसी साझे मैदान में । मृत तथा घायल व्यक्तियों को पुलिस उठाकर अस्पताल ले जाती। बाक़ी भाग जाते । जगह साफ़ कर दी जाती और बात ख़त्म हो जाती। शहर बड़ा होता है, अपने घर के अलावा कोई किसी भी जगह को अपना नहीं समझता, पर गांव में गोली चली तो मुझे इस तरह लगती थी जैसे हर घर में गोली चलायी गयी हो।

जिस दिन अख़बार में ख़बर छपी, उससे अगले दिन छुट्टी थी। मेरा मन किया कि उस गांव में चला जाऊं। गोली चलने के बाद गांव कैसा लगता है, यह देख आऊं। दो-तीन दिन बीत गये थे पर यह कोई बहुत ज़्यादा दिन नहीं थे। रास्ते में एक शहर में बस बदलनी थी। मैं अगली बस के इंतज़ार में खड़ा था कि तहसीलदार मिल गया। वह मेरा जानकार था। उसने बताया कि लगभग सौ स्त्री और पुरुष उसको मारने के लिए आ गये और उसने गोली चलाने का हुक्म दे दिया।

और उसने यह बात बतायी कि बड़े अफ़सर तथा मंत्री उसकी इस कार्रवाई पर बहुत ख़ुश थे। वह स्वयं बहुत हंस रहा था । अब वहां खड़ा वह पुलिस इंस्पेक्टर का इंतज़ार कर रहा था। वह पुलिस की गारद लेकर आयेगा और फिर वे किसी दूसरे गांव जायेंगे, मामला वसूली तथा कुर्की करने के लिए। उनको हुक्म था कि इस समय इस काम का दबाव बना हुआ है इसलिए इसे जल्दी जल्दी ख़त्म कर दिया जाये! इन जैसे कामों के बारे में ऊपर ऊपर की जानकारी से मेरा यह ख़याल था कि इस तरह की किसी भी कार्रवाई के पीछे कोई बड़ा अफ़सर इसकी जांच पड़ताल करता है और फिर फ़ैसला देता है कि गोली चलाने की आवश्यकता थी या नहीं। जितनी देर यह फ़ैसला आ न जाये, गोली चलाने वाला अफ़सर अपने काम के नतीजों के विषय में चिंतित ही रहता था, पर यह तहसीलदार तो चिंतित होने की जगह ख़ुश था- जैसे उसको पता हो कि इस बात के लिए उसे तरक़्क़ी मिलनी ही है। तहसीलदार बातें करके चला गया और कुछ देर के बाद मुझे उस गांव जाने के लिए बस मिल गयी।

जिस जगह पर मैं बस से उतरा, वहां से वह गांव तीन चार मील दूर था। आगे कोई सवारी नहीं जाती थी। इसलिए बस से उतर के मुझे कोई जल्दी नहीं थी। बस अड्डे पर चाय बेचने वाले तथा चढ़ने-उतरने वाली सवारियां उसी गांव की बातें कर रही थीं। बड़े लोगों में से कौन-कौन गांव होकर आया है, अब वहां कौन है? बाक़ी गांवों में इसका क्या असर पड़ा है? ये बातें धीरे-धीरे हो रही थीं। वैसे किसी की बात में रोष नहीं था। सारा ग़ुस्सा डर से बंधा हुआ था। गोली चली है, लोग मरे हैं, पुलिस गांव में बैठी है, कई बड़े आदमी आये और गये हैं, इससे ज़्यादा कोई कुछ कहने को तैयार नहीं था।

मैंने गांव का रास्ता पूछा तथा पगडंडियों से होता हुआ चल पड़ा। चैत का महीना था। पगडंडी के किनारे-किनारे गेहूं की फ़सल पकने वाली थी। गेहूं की बालियां हवा में लहरा रही थीं। पुलिस की कार्रवाई का यहां कोई असर नहीं था।

पकने वाली फ़सल का अपना नख़रा, अपना तेवर होता है। यहां तक पहुंचने तक उसने कई चीज़ों पर जीत हासिल की हुई होती है। इस तरह की गेहूं की फ़सल का साथ मेरे लिए अच्छा था। कहीं-कहीं लड़के जानवर चरा रहे थे। कोई इक्का-दुक्का मुसाफ़िर मोटर पर चढ़ने के लिए पैदल चलता आ रहा था। मेरी किसी से कोई बात नहीं हुई।

गांव के बाहर एक पेड़ के नीचे कुछ गबरू जवान लड़के बैठे थे। उनके नज़दीक न तो कोई जानवर चर रहा था और न ही कोई कुआं था । प्रतीत होता था कि वे केवल खुल कर बातें करने के लिए ही यहां इकट्ठे बैठे हैं। गांव में जैसे उनकी सांस घुटती हो। मैं भी उनके पास चला गया। मुझे डर था कि शायद गांव के आसपास पुलिस का पहरा हो और वे गांव में जाने से रोकें। उन्होंने मुझे बताया कि ऐसी कोई रोक नहीं है और न ही गांव के आसपास कोई पहरा है । पुलिस गांव के बाहर स्कूल में बैठी हुई है और लोगों के घूमने-फिरने या आने जाने पर कोई पाबंदी नहीं। जब मैंने पूछा कि क्या बात हुई तब उन्होंने गांव वालों को सच में बेक़सूर बताया और पुलिस वालों को एक सिरे से क़सूरवार।

वहां से मैं आगे गांव की तरफ़ चला।

गांव के नज़दीक एक लड़का चारे के लिए शटाला काट रहा था। मैंने उससे पूछा, यहां क्या बात हुई है? उसने मेरी तरफ़ नहीं देखा तथा ध्यान से, बल्कि पहले से भी अधिक ध्यान से पट्ठे काटता गया। मैंने फिर ऊंची आवाज़ में पूछा। उसने कहा, मुझे नहीं पता। मैं यहां नहीं था, कटाई के लिए गया हुआ था। मैंने कहा, कटाई से आकर तो कुछ सुना होगा।

उसने फिर कहा, मुझे कुछ नहीं पता । वह किसी भी पक्ष से बात करने से डरता था।

मैं आगे चल पड़ा।

गांव की गली बहुत सूनी थी। न कोई बच्चा खेल रहा था और न कोई बड़ा ही आ जा रहा था । एक स्त्री जिसने बाल धोये हुए थे, अपने बरामदे के दरवाज़े तक आयी और मुझे देख कर पीछे मुड़ गयी। मैं गलियों से होता हुआ चलता गया। गांव के छोर पर एक चौपाल थी। ऐसा लगता था यह कोई साझी जगह हो। मैं अंदर चला गया।

तख़्तपोश पर कुछ लोग बैठे हुए थे। दुआ सलाम के बाद मैं भी उनके पास बैठ गया। कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं थी। यही बातें हो रही थीं। वहां बैठने पर पता चला कि वहां आने-जाने वालों तथा सलाह-मशवरा देने वालों की कमी नहीं थी। उनके नेताओं ने उन्हें मशवरा दिया था कि वे कुर्की होते हुए न रोकें तथा जिस तरह पुलिस करती है, उसे करने दें। कुछ देर बाद मेहमानों की एक और खेप आ गयी वे तख़्तपोश पर बैठे लोगों के अच्छे जानकार लगते थे। चाय आ गयी और हम सब ने पी। चौपाल के बाहर सिपाहियों के क़दम से क़दम मिलाकर चलने

की आवाज़ आयी। मैंने उठ कर देखा, दस-बारह सिपाही बंदूक उठाये लाइन बनाकर मार्च कर रहे थे, साथ में थानेदार भी था। गांव वालों ने बताया कि हर दो-तीन घंटों के बाद ये इसी तरह गांव की गलियों से गुज़रते हैं।

गांव के लोग बाहर से आये लोगों को बताने लगे, 'हमारा पुलिस से मुक़ाबले का कोई विचार नहीं था। लोग एक दूसरे की देखा-देखी पुलिस को देखने के लिए इकट्ठे हो गये थे। हां, हमने यह ज़रूर पुलिस वालों को पहले कहा था कि हमारा गांव अन्य गांवों जैसा नहीं है। यहां आप ऊंची-नीची बात नहीं कर सकते। उन्होंने ऐसे ही डरते हुए गोलियां चला दीं।'

फिर वे उन लोगों को वारदात वाली जगह दिखाने के लिए बाहर ले गये । दीवारों में और नांदों में लगी हुई गोलियां दिखायीं। एक व्यक्ति नांद के पास बंधे अपने जानवरों को खोलने आया था, कहीं उन्हें गोली न लग जाये, वह खुद ही मारा गया। एक व्यक्ति अपने वेलणे में गन्ने लगा रहा था। वह भी मारा गया। ईटों के ढेर पर गोली लगने से एक ईंट अलग हो गयी थी। वह भी अपनी असली जगह पर रख कर दिखायी गयी। बाहर से आये लोग सुनते रहे, 'ओहो ओहो...' करते रहे, पर उन्होंने रोष का कोई चिन्ह नहीं दिखाया। शायद उनके अपने गांव पर भी पुलिस का काफ़ी दबाव हो।

दूसरी तरफ़ कार आकर रुकी। उसमें से सरकार पर क़ाबिज़ धड़े का विरोधी नेता निकला। गांव वालों में से एक दो ने उसे पहचान लिया। बाक़ियों ने उन्हें शुरू में ही बता दिया कि यह कौन है। उस नेता ने भी सब कुछ देखा। चारों तरफ़ घूम कर और उस दिन के बाद के हालात सुनकर उसने कहा , 'जो कुछ आप बता रहे हो यह तो कोई बिलकुल पगलाये हुए पुलिस वाले ही कर सकते हैं'। मुझे और गांव वालों को कुछ समझ न आया कि उसने गांव वालों के बयान को झूठा कहा है या उसका ख़याल था कि पुलिस वालों ने सचमुच पागलों वाला काम किया है।

फिर वह नेता कार में बैठकर चला गया । मुझे भी वहां अब ज़्यादा ठहरने की ज़रूरत नहीं थी। गांव की हालत मुझे काफ़ी कुछ समझ में आ गयी थी। मैंने वापसी का रास्ता पकड़ा। रास्ता वही पहले वाला था, पर मेरा दिल कुछ बैठा हुआ था। दिल को गर्मजोशी देने वाली कोई बात हुई नहीं थी। गांव एकदम निढाल हुआ पड़ा था।

जिस पगडंडी से मैं वापिस जा रहा था, उसको, बायीं तरफ़ से एक कच्चा रास्ता काटता था। कुछ आगे जाकर उस रास्ते पर एक मोटर खड़ी थी, आगे पानी होने के कारण रुकी पड़ी थी। मोटर से उतर कर पुलिस के सिपाही पैदल ही किसी गांव की तरफ़ जा रहे थे। बंदूकें उनके हाथों में थीं। उस राह में खाक़ी वर्दियों तथा लाल पगड़ियों की लंबी लाइन बनी हुई थी।

मैं कुछ देर खड़ा इस लाइन को चलते देखता रहा और फिर आगे बढ़ गया। दूर पगडंडी पर एक जोड़ा चलता आ रहा था, पति-पत्नी। मैं उन्हें देख रहा था पर उन्होंने अभी मुझे नहीं देखा था, या शायद देख कर अनदेखा कर रहे थे। वे प्यार करते आ रहे थे! पुरुष ने स्त्री के गले में बांहें डाली हुई थी जिस तरह से छेड़खानी करते लड़के एक दूसरे के गले में बांहें डाल कर चलते हैं।

जब वे नज़दीक आ गये तो स्त्री ने मुझे देख लिया। उसने अपने पति का बाज़ू अपने गले से से हटा दिया। घूंघट निकाल कर वह थोड़ा पीछे होकर चलने लगी। पता नहीं कैसे, उनको देखकर मेरे मन से पुलिस का भय उतर गया।

लड़की गौने में आ रही लगती थी। दुपट्टे पर गोटा लगा हुआ था, कमीज़ के घेरे और सलवार के पांयचों पर भी। शहरी जूती के नीचे जुराबें पहनी हुई थीं। बंद मुट्ठियों में भी हथेली के किनारों से मेहंदी लगी दिख रही थी।

कुछ आगे जा कर मैंने फिर पलट कर देखा। मुझे चला गया जानकर वे फिर पहले जैसे ही चलने लगे थे। स्त्री ने भी पीछे मुड़ कर देख लिया कि मैं देख रहा हूं, पर अब उन्होंने अलग होने की कोई कोशिश नहीं की।

वे दोनों उसी गांव में जा रहे थे जहां से मैं आ रहा था। यह ससुराल आयी स्त्री अब वहीं रहेगी। नया घर बसेगा। बच्चे पैदा होंगे जो उस गांव की नयी पीढ़ी बनेंगे। मुझे और तसल्ली हो गयी। मनुष्य की बलाएं मनुष्य का बच्चा ही बड़ा होकर काटता है।

अनुवाद : बलवंत कौर

मो.9868892723

(नवारुण प्रकाशन से शीघ्र प्रकाश्य पुस्तिका, *किसान आंदोलन : लहर भी, संघर्ष भी और जश्न भी* का एक हिस्सा)

फार्म-4

(प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित नया पथ रजिस्टर्ड पत्रिका से संबंधित स्वामित्व आदि का विवरण)

1.	प्रकाशन का स्थान	:	ख़सरा नं. 258, लेन नं. 5, चंपा गली, सैदुल्ला जाब, नयी दिल्ली
2.	प्रकाशन की आवर्तता	:	त्रैमासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?	:	हां
	पता	:	ख़सरा नं. 258, लेन नं. 5, चंपा गली, सैदुल्ला जाब, नयी दिल्ली
4.	प्रकाशक का नाम	:	चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?		हां
	पता	:	ख़सरा नं. 258, लेन नं. 5, चंपा गली, सैदुल्ला जाब, नयी दिल्ली
5.	संपादक का नाम		चंचल चौहान
	क्या भारतीय हैं?		हां
	पता	:	ख़सरा नं. 258, लेन नं. 5, चंपा गली, सैदुल्ला जाब, नयी दिल्ली

6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक-एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार हैं : जनवादी लेखक संघ, ख़सरा नं. 258, लेन नं. 5, चंपा गली, सैदुल्ला जाब, नयी दिल्ली

मैं चंचल चौहान एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सही हैं।

(हस्ताक्षरित)
चंचल चौहान

बंसी कौल का रंग क्षेत्र और रंग रसायन

रामप्रकाश त्रिपाठी

बंसी कौल! नाटक की दुनिया की जानी-पहचानी शख़्सियत। यह शख़्सियत वह है जो दुनिया-जहान के सामने है। बहुत ही कम बल्कि बेहद अंतरंग लोग ही जानते हैं कि इस बंसी का कोई एक सुर नहीं है। एक बंसी में कई बंसी हैं। कवि बंसी, चित्रकार बंसी, लेखक-साहित्यकार बंसी, चिंतक-विचारक बंसी, श्रमजीवी और अलाल बंसी। और भी बंसी हो सकते हैं उसकी शख़्सियत में पिनहा-मैंने सिर्फ़ उनका ज़िक्र किया जिनसे मैं परिचित हूं, जैसे दोस्त बंसी, दुश्मन बंसी, भावाकुल बंसी, व्यावहारिक बंसी।

मैं बंसी को ग्वालियर से जानता हूं। वे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से रंगमंच स्नातक होकर 'रंगश्री' लिटिल बैले ट्रुप' के साथ काम करने के लिये आये थे। अभिनेता बंसी, नाट्य निर्देशक बंसी, कोरियोग्राफ़र बंसी और संस्थाबाज़ बंसी। 'रंगश्री' के नाट्य प्रकोष्ठ की तरह शुरू हुआ 'रंग-विदूषक'। आधुनिक और पारंपरिक रंगमंच की प्रयोग भूमि। 'विदूषक' में रंजक भाव तो है लेकिन बुद्धि-विवेक और जनपक्षधरता की संवेदना के साथ। भारतीय शास्त्रीय रंगमंच में विदूषक की परिकल्पना ही ऐसी है।

महाराजा अग्निवरण के पैर, आला अफ़सर, की एक ज़माने में धूम हुआ करती थी। ये नाटक बंसी की निर्देशकीय प्रतिभा के ही नहीं उनकी सोच और विचारधारा के परिचायक भी रहे हैं। यों तो 'रंगश्री' से जुड़ना ही उनके वैचारिक रुझान का परिचय देने के लिए काफ़ी था, फिर भी विचार और विचारधारा का सृजन में प्रस्फुटित होना ज़रूरी था। यह उनके नाटकों की परिकल्पना और प्रस्तुतियों ने किया।

'रंगश्री', उसके संस्थापक शांतिबर्धन, गुलबर्धन और लंबे समय तक प्रिंसिपल, कोरियोग्राफ़र रहे प्रभात गांगुली, उदय शंकर के अल्मोड़ा स्थित नाट्य शिविर, कम्युनिस्ट पार्टी के सेंट्रल स्कॉड, इप्टा से आते हैं। शांतिदा तो बाक़ायदा क्रांतिकारियों में से रहे हैं और फ़रारी काटी है। गुलबर्धन पार्टी की कार्ड होल्डर रही हैं। सब कुछ के बावजूद इन सबकी और 'रंगश्री' की ख़ूबी यह रही है कि वे कला का प्रयोग मनुष्य के परिष्कार और रुचिबोध के उन्नयन के लिए करते रहे हैं। दलगत राजनीति में वे नहीं रहे। स्वाभाविक था कि रंगभूमि पर जहां बैले यानी नृत्यनाटिका के क्षेत्र में सर्वसमावेशिता और सांस्कृतिक बहुलता का पल्लवन हो रहा हो, वहां बंसी के सींग आसानी से समा सकते थे। बंसी ने अपनी युवावस्था का बेशक़ीमती वक़्त और ऊर्जा का भाग 'रंगश्री' को दिया, बल्कि नवोन्मेषी, बहुजन हिताय रंग-चेतना को दिया। इससे उनकी वैचारिक और सकर्मक संकल्पना और समर्पण को समझा जा सकता है।

'रंगश्री', *रामायण, पंचतंत्र, डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया, पशुतंत्र* आदि नृत्यवाटिकाओं द्वारा जहां भारतीय बैले की अवधारणा को शास्त्रीय और लोक तत्वों के रसायन से तैयार कर रहा था, तथा इतिहास को कलात्मक संवेदना के साथ मंचित कर रहा था, वहीं उसमें नये समय की गति और समकालिक दृष्टि विषयक कमजोरियां नज़र आ रही थीं। इस बर्फ़ को तोड़ने के लिए बंसी ने एक बैले तैयार किया, 'आकारों की यात्रा' । छतरियों के द्वारा ऐसी-ऐसी सम्मोहक छवियां उन्होंने कल्पनाशील संयोजन से गढ़ीं कि लोग दांतों तले उंगली दबाकर रह गये। इस तरह यहां उन्होंने कोरियाग्राफ़ी में भी अपना लोहा मनवाया। ऐसा ही उन्होंने संस्था द्वारा नवीन बैले अतीत की स्मृतियां (*मेमोरी ऑफ़ सैडनेस*) के अंतिम दिनों में अपनी जादुई संस्पर्श से किया।

यह बैले गैस कांड पर आधारित था। भोपाल गैस कांड के बाद बदहवास शहर के सामान्यीकरण में जैसी रचनात्मक भूमिका बंसी ने निभायी, वह कलाकारों के लिए प्राय: दुर्लभ होती है। गहरी करुणा और जनसंवेदी हुए बिना यह संभव नहीं होता है।

बंसी नाट्य जगत में कुशल अभिनेता, कुशल निर्देशक और कुशल मंचशिल्पी के रूप में ख्यात हैं। उनकी कीर्ति पुरस्कारों, सम्मानों की मैं बात नहीं कर रहा हूं, न उनकी वैश्विक छवि को उकेरने का उपक्रम कर रहा हूं। मैं पूरी विश्वसनीयता, दावे और चाक्षुष प्रमाणों के आधार पर कहता हूं कि बंसी बेहद डरपोक रंगकर्मी रहे। हालांकि उनकी ज्ञान-गुंडई और बेख़ौफ़ मुंहफटपन से मैं औरों की तरह ख़ूब वाक़िफ़ हूं लेकिन जिस तरह अपनी प्रस्तुति के बाद वे दर्शकों, प्रशंसकों, रिपोर्टरों और समीक्षकों से आंख चुराते रहे, यह मैंने ख़ूब देखा है और यह सबको आश्चर्यचकित करता रहा है।

वजहें क्या रही होंगी इसकी?

क्या बंसी के प्रॉडक्शंस इतने ख़राब होते थे कि वे दर्शकों को मुंह नहीं दिखाना चाहते थे? या यह कि वे रूबरू दर्शकों की आलोचना या निंदा बर्दाश्त नहीं कर सकते थे? क्या वे आलोचना असहिष्णु थे? ऐसा तो नहीं हो सकता। प्राय: रंगकर्म में उनकी जादूगिरी के दर्शक क़ायल रहे। प्रयोगधर्मिता का जहां तक सवाल है, उसमें वे किसी से पीछे नहीं थे। मध्यप्रदेश का शिखर सम्मान, भारत सरकार की संगीत नाटक अकादमी द्वारा दी गयी उपाधि और पद्मश्री उन्हें कोई पेड़ पर लटके नहीं मिल गयी थी। 'यक़ीनन तुझमें कोई बात होगी, ये दुनिया यूँ ही पागल तो नहीं है' (ताज)। फिर इतना, डर, इतना संकोच, इतनी भीति पब्लिक से क्यों?

दरअसल बंसी एक बैचैन आत्मा रहे। 'संतोष-धन' उनके खाते में नहीं था। वे अमोघ असंतोष के साधक थे। सबसे ज़्यादा असंतुष्ट वे स्वयं और स्वयं की कृतियों से रहते रहे । उन्हें अपना हर सृजन अधूरा और अपूर्ण लगता रहा । वे उस 'पाज़िटिविटी' के मुख़ालिफ़ रहे जो स्वेटमार्डन से शिवखेड़ा तक के लोग परोस रहे थे। वे सृजन -शंकालु रहे। अर्थात-अपने ही सृजन के प्रति शंकालु। शायद वे आलोचना से उतना नहीं डरते थे जितने कि आत्मालोचन से आत्म प्रताड़ित होते थे। इसलिए वे हर प्रस्तुति के बाद ज्यादा सिगरेट फूंकते और सामान्य से ज़्यादा पैग पीते और अनर्गल गप्प-गोष्ठियों में मुब्तिला नज़र आते थे, साथ ही प्रस्तुति पर चर्चा से बचते थे । मुझे लगता है कि बंसी को यही बात विशिष्ट और बड़ा सर्जक भी बनाती है।

मैंने उन्हें बहुत क़रीब से रंग निर्देशन करते देखा है। उनकी 'रेपट्री' के अभिनेता प्रस्तुति के बाद कितने ही ख़ुश नज़र क्यों न आते हों, लेकिन पूर्वाभ्यास के दौरान वे हलकान ही रहते थे। वजह यह है कि प्रस्तुति के मंच पर जाते-जाते निर्देशक बंसी के दिमाग़ में नया विचार कौंधता था, तो वे या तो प्रस्तुति के ढंग में परिवर्तन कर देते थे अथवा सेट या संगीत में बदलाव ला देते थे। अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इससे पूर्वाभ्यास के तकाज़ों के चलते मंचस्थ रंगकर्मियों को कितना तनाव झेलना पड़ता होगा। कभी-कभी कलाकार से चूक भी हो जाती थी और कभी-कभी आशा से अधिक परिणाम वे देते थे। बहरहाल अपनी प्रस्तुति के प्रति संशयशीलता उनमें बनी ही रहती थी। अपनी रचना के लिए वे शंकालु रहते थे आश्वस्त नहीं। यह निराश्वति ही उनको नये से नया और, 'जो है उससे बेहतर' करने के लिए प्रेरित करती थी। चूंकि वे स्वयं संतुष्ट नहीं होते इसलिए प्रशंसा बटोरते भी नहीं फिरते थे। यह लिखे जाने तक उनके द्वारा निर्देशित *तुक्के पे तुक्का* नामक व्यंग्य नाटक के भारतीय उपमहाद्वीप में सौ से ज़्यादा प्रस्तुतियां हो चुकी हैं। कई कलाकार बदले, कलाकारों की पीढ़ियां बदली, मगर उदय शाहणे पर से बंसी का भरोसा नहीं बदला। उन्होंने अब तक 100 प्रस्तुतियों में तुक्कू की भूमिका निभायी है। इसमें एक नवाब का किरदार है। वह राजनीतिक परिदृश्य के हिसाब से बदल जाता है। इंदिरा गांधी के ज़माने में नवाब महिला (समता सागर) थीं और

मोदी काल में उन्हीं की क़द काठी के हर्ष द्रोण की पुन: वापसी हो गयी। पूरा नाटक फ़ार्स है, मगर वह पक्षपात, भाई-भतीजावाद, राजनीतिक षड्यंत्र, दुरभिसंधियों से विदूषकी अंदाज़ में संवाद करता है। यह संवाद तात्कालिक रूप से दर्शकों को गुदगुदाता भी है और उनकी चेतना या संवेदना को झकझोरता भी है, वैकल्पिक दुनिया के लिए प्रेरित भी करता है।

'सीढ़ी-दर-सीढ़ी उर्फ़ तुक्के पे तुक्का' का उदाहरण मैं ख़ासतौर पर इसलिए दे रहा हूं क्योंकि यह एक नयी नाट्य-शैली है जो बंसी ने बहुत खाक छानने के बाद ईजाद की। हबीब तनवीर के अतिरिक्त अकेले बंसी ऐसे रंग निर्देशक थे जिनकी बिलकुल अपनी और भिन्न शैली थी। दोनों में दिलचस्प यह है कि दोनों की शैलियों के रंग-शिल्प 'लोक' आधारित रहे। हबीब जी की प्राय: सारी बतकही मुहावरे में है। बंसी वक़्त के तकाज़े के मुताबिक़ लोक का विस्तार करते नज़र आते थे। बंसी के रंग-रसायन में केवल एक क्षेत्र विशेष का लोक-संस्कार नहीं है। वहां लोक के विविध रंगों के साथ अखाड़ेबाज़ी भी है, नटगीरी भी है, चौपाल चर्चा भी है। कथागायकी भी है और असमाप्त लंतरानियां भी। इसलिए बंसी के 'रंग विदूषक' (जो 1984 से स्वतंत्र रूप में सुस्थापित हुआ।) में - *क़िस्से आफ़ती के, अंधेर नगरी, गधों का मेला, नैन नचैया, बेढब थानेदार, सौदागर और रंगबिरंगी दुनिया* का भावबोध गड्डमड्ड होता है, तो वह न कल्चर का घल्लू घारा होता है न अमलगमेशन बल्कि वह अनेकता में एकता वाले विश्वमानव की तलाश में हांका लगता, जन जागरण की तरह का तमाशा होता है। वहां खोजा नसीरुद्दीन, वीरबल, तेनालीराम रंग अनुभव में परकाया प्रवेश करते दीखते हैं, ब्रेख्त से संवाद करते दृष्टिगोचर होते हैं। यह अदभुत होता रहा है।

अब हमारे कतिपय आधुनिकतावादी या उच्च आधुनिकतावादी रंगप्रेमियों को इसमें सिर्फ़ भांड-मिराशीपन या अतार्किक उछलकूद नज़र आती हो तो नज़र आये और रूढ़ शास्त्रीयता पर परंपरावादियों को यह शास्त्रीयता का लंघन नज़र आता है तो आये, लोक-कलाओं के स्वयंभू विवेचकों, व्याख्याकारों को इसमें लोक नज़र में न आता हो तो न आये, मगर जो सर्वसमावेशिता में यक़ीन करते हैं, उन्हें बंसी का विदूषक विश्वसनीय दीखता है। मेरे मत से ठीक ही दीखता है क्योंकि इसमें हास्य बोध भी है, सामाजिकता में अर्जित विचारधारात्मक प्रवाह भी है, सहज-सरल प्रतिरोध और आक्रोश भी है। कहना चाहिए कि असहमतियों के साथ दृढ़ प्रतिज्ञा भी है, रंजकता में पोशीदा गहरी करुणा भी है इसलिए *'रंग विदूषक'* का नाटक जब गुदगुदाता है तो दर्शक की आंखें नम भी होती हैं। उसके नेत्र विस्फारित भी होते हैं क्योंकि वह 'साधारणीकरण' के ज़रिये दर्शक के दुख-दर्द-घुटन-पीड़ा पर उंगली भी रख देता है।

बंसी में यह करुणा, यह पीड़ा पैबस्त है। मैं, यानी रामप्रकाश अपने रहन-सहन के मामले में उदासीन हूं। सजने की इच्छा पर हमेशा 'ऐसी क्या पड़ी है' का भाव हावी रहता है। बंसी उम्र में मुझसे छोटे पर अनुभव में शायद बड़े। एक बार मैं उनके घर द्वारका के सतीसर अपार्टमेंट में ठहरा। शहर में घूमा भी। अचानक उन्होंने गाड़ी बाटा के शोरूम पर रुकवायी। मुझे लगा जूता-चप्पल कुछ लेना होगा। यों भी बंसी ब्रांडेड चीज़ें चाव से पहनते और बरतते थे। अंदर गये तो वे मेरी तरफ़ इशारा करके बोले, 'इनके नाप का जूता दिखाओ।' मैं हतप्रभ! मैंने कहा, 'यह क्या बकवास है, मैं अच्छा ख़ासा जूता पहने हुए हूं।' बस इतना कहना था कि कश्मीरी पंडित के मुंह से 'मातृ देवो भव', 'पितृ देवो भव' क़िस्म के श्लोक झरने लगे। मैंने सार्वजनिक प्रदर्शन को स्थगित करवाने में ही ख़ैर समझी। बहरहाल, सरेबाज़ार बंसी ने मुझे जूते दे दिये। गाड़ी में बैठने के बाद बारी मेरी थी। बंसी ने कहा कि 'तुम समझोगे नहीं। मेरा बचपन बहुत गुरबत में बीता है। कश्मीर में जब बर्फ़ ही बर्फ़ होती और पास में फटे पुराने जूते होते या न भी होते तो भारी तकलीफ़ होती। तुम मैदान के लोग नहीं समझ सकते कि बर्फ़ के शूल कैसे चुभते हैं। तबसे जूते मेरा कॉम्पलेक्स हैं। अच्छे जूते मेरा सपना रहे हैं। तुम्हारे पुराने और थेगड़ेदार जूते को देखकर मेरा कॉम्पलेक्स जाग उठा'

और बंसी यह कहकर हंसे। मगर यह सिर्फ़ हंसी नहीं थी-उसमें गहरा दर्द भी था। वार्तालाप को हलका करने के लिए मैंने कहा कि 'तुम सारे बर्फ़ के चाकू के मारे हुए हो। वैसे जूते मैं कम ही पहनता हूं। ज़्यादा चप्पलें पहनता हूं। पर जब भी जूते पहनता हूं तो उनमें बंसी की पैबस्त यातना न चाहकर भी दिख जाती है।

बंसी ने अपनी स्वतंत्र रेपट्री बच्चों से शुरू की। *रंग बिरंगे जूते, मोची की अनोखी बीवी*, रेपट्री के आरंभिक नाटक थे। यह 1984-1985 का दौर था। दिलचस्प है कि इन नाटकों की कार्यशालाओं में प्रशिक्षित बच्चे आज भी 'रंग विदूषक' परिवार के सदस्य हैं। कुछ तो 'रंग विदूषक' के नाटकों का निर्देशन करते हैं। 'रंग विदूषक' प्रकटत: ड्रामा स्कूल नहीं है लेकिन उसमें कलाकार का परिष्कार और विकास गुरुकुल की तरह होता है। मैंने रंग संस्थाएं बहुत देखी हैं। सूत्रधार का निर्माण, संचालन भी किया है। अनुभव से कह सकता हूं कि कोई भी नाटक मंडली एक निर्देशक के नाम पर चलती है। लेकिन 'रंग विदूषक' में ऐसा नहीं था। उसके कलाकारों ने अपनी नाट्य मंडिलयां भी बनायीं, लेकिन 'रंग विदूषक' में रहते हुए संस्था के नाटकों का निर्देश किया है और कई-कई जगह मंचन किया है। यह सचमुच दुर्लभ है। यह दुर्लभता मात्र संयोग नहीं है। उसमें वही पैबस्त करुणा का सृजन है जो न दिखता है न दिखाया जाता है।

कला की या नाटक की दुनिया का आदमी नहीं था बंसी। वह सामाजिक था। समसामयिक विषयों से वह मंच को सिर्फ रचता नहीं था और न सिर्फ मुद्दे-दर-मुद्दे कलात्मक मुठभेड़ करता था रंग माध्यम से। उसे यह ग़लतफहमी भी नहीं थी कि उसके बदले से समाज बदल जायेगा। हां, नयी और बेहतर दुनिया का सपना ज़रूर था उसके पास। दिल्ली के पास साहिबाबाद में जब जन नाटय मंच के कलाकार-निर्देशक सफ़दर हाशमी का बेरहमी से क़त्ल किया गया था, तब देशभर के रंगकर्मियों को जुटाने और राष्ट्रव्यापी प्रतिरोध खड़ा करने में बंसी की भूमिका बहुत अहम और उग्र थी। रंग जगत के सावयवी, अग्रगामी और विचारधारा समृद्ध मंच 'सहमत' के गठन में भी उसकी उल्लेखनीय सहभागिता रही। यह सब कानों सुनी बात है। आंखिन देखी, गतिविधि तो 1992 के भोपाल के सांप्रदायिक दंगो के दौरान की है। दिसंबर भोपाल के लिए त्रासद महीना रहा । दिसंबर में ही भोपाल गैस कांड (2 दिसंबर 1984) हुआ था और दिसंबर में ही बाबरी मस्जिद ढहायी गयी थी (6 दिसंबर 1992)। उसके बाद उस भोपाल में भी सांप्रदायिक कारणों से 142 लाशें गिरी थीं। जिस भोपाल में भारत-पाक विभाजन के दौरान ख़ून तो दूर, किसी का पसीना तक नहीं बहा था। पहली बार भोपाल के दामन पर धर्मांध-सांप्रदायिकता ने ख़ून के छींटे डाले थे। औसत भोपालियों की तरह बंसी भी दुखी थे। अतिरिक्त संवेदनशीलता के चलते। मगर बंसी अनिद्रा के शिकार हो गये।

कर्फ़्यू आलूद शहर। आठों दिशाओं की ओर से उठते गहरे काले धुएं की मोटी-मोटी लकीरें जैसे धरती और आसमान को तक़सीम करने पर आमादा थी। पुलिस-फ़ौज की दौड़ती चिंघाड़ती जीपें। प्रोफ़ेसर कालोनी की एक छत पर खड़े होकर बंसी ने भी यह देखा। बंसी ने जो देखा वह इस सबसे ज़्यादा था। घर से बच्चे भी बाहर नहीं निकल सकते थे। वे पतंगें उड़ा रहे थे। बंसी ने धुआं-धुआं आसमान में पतंगें देखीं और सोचा :

जो कुछ आज है वो कल तो नहीं है
ये शामे ग़म मुसलसल तो नहीं है। (ताज भोपाली)

...और आसमान की पतंगें उड़ाने का मन बना बंसी का। फ़ोन खटकाये गये। मध्यप्रदेश विज्ञानसभा, भारत ज्ञान विज्ञान समिति, एकलव्य, जनवादी लेखक संघ, प्रलेस के साथी दंगों में घायल, उजड़े लोगों की मदद कर रहे थे। मध्यप्रदेश मेडीकल रिप्रजेंटेटिव एसोसिएशन के साथी सेंपल वाली सारी दवाएं और उपकरण मुहैया करा रहे थे। कर्फ़्यू लंबा खिंच रहा था। दिन में कर्फ़्यू में ढील के वक़्त कांग्रेस पार्टी ने नीलम पार्क में अमन का जुलूस निकालने के लिए आह्वान किया। मतभेदों को झटककर सभी लोग जुटे। मैं, राजेश जोशी, बंसी कौल, विनोद रायना, संतोष चौबे, राजेंद्र शर्मा, सतीश मेहता, एस आर आज़ाद, डॉ. अजय खरे, किशोर उमरेकर, प्रेम गुप्ता, विनोद तिवारी आदि

-आदि , सभी वहीं थे। मंच पर से दिग्विजय सिंह ने घोषणा की कि अमन-जुलूस निकालने की इजाज़त पुलिस नहीं दे रही है। हम प्रशासन की मदद के मददेनज़र अमन जुलूस स्थगित कर रहे हैं।

हम सबको धक्का लगा। नेताओं से हुज्जत भी की, मगर नतीजा नहीं निकला। तब हम सबने बैठकर वहीं नीलम पार्क में 'सांस्कृतिक मोर्चे' का गठन किया और अमन जुलूस निकालने का फ़ैसला किया। नये भोपाल में दिन का कर्फ़्यू नहीं था लिहाजा अरेरा कालोनी, एकलव्य कार्यालय में मोर्चे की बैठक हुई। जुलूस की थीम बनी।

पहले थीमेटिक नारे थे- 'ख़ून के धब्बे धुलेंगे कितनी बरसातों के बाद' और 'ख़ून फिर ख़ून है टपकेगा तो जम जायेगा' बंसी ने कहा जुलूस सिर्फ़ जुलूस न हो, उसमें बड़े-बड़े आकार की पतंगें हों, उनमें नारे और संदेश लिखे हों। उन्होंने कहा कि एक चादर हो जो ख़ून में लिथड़ी दिखायी दी। ठेले हों जिनमें श्रमिक काम कर रहे हों, मगर उन पर एक जाल डला हो और उनके हाथ मजबूरन रुक गये हों। ताज़िये के जुलूसों में या दिल्ली की फूलवालों की सैर के दौरान जैसे नेज़े निकलते हैं वैसे कलात्मक नेज़े तैयार किये जायें। सबकी सहमति बनी। स्व. भगवत रावत, राजेशी जोशी, संतोष और विनोद ने कवितांश और आप्त संदेश ढूंढ़े। बंसी ने थियेट्रिकल डिवाइस से जुलूस डिज़ाइन किया।

शहरभर के लेखकों, कलाकारों, रंगकर्मियों, संस्कृतिकर्मियों को फ़ोन से सूचित किया गया। जुलूस की तिथि निर्धारित हुई। पुलिस अधीक्षक ने शांति जुलूस की इजाज़त देने से इंकार किया। मगर सब अड़ गये। अधीक्षक ने कहा कि अवज्ञा करेंगे तो हमें सख़्ती पर मजबूर होना पड़ेगा। हम सबने कहा, 'ठीक है आप शांति जुलूस पर लाठी चलवाइए, गोलियां बरसाइए, मगर यह कार्रवाई नहीं रुकेगी। आख़िर यह गांधी का देश है।

अंतिम से एक दिन पहले 90 फ़ीट लंबी चादर पर ख़ूब सारा ख़ूनी लाल रंग डाला गया। एकलव्य कैंपस में उसे बिछा दिया गया। जब छत पर चढ़कर बंसी ने देखा तो दौड़ते हुए नीचे आये और बोले कि नहीं, यह भयानक है। ख़ून का ऐसा प्रदर्शन दहशत पैदा करेगा। तब तमाम, पेस्टल कलर्स लाये गये और ख़ून के लाल रंग को तमाम रंगों में सराबोर कर दिया गया। ज़ाहिर था कि तब जुलूस की थीम, जो बैनर पर लगनी थी वह अप्रासांगिक हो गयी। लिहाज़ा नयी थीम बनी, जो राजेश और बंसी ने मिलकर बनायी - सब रंगों का एक ही नाम-हिंदुस्तान-हिंदुस्तान।

जीपों-कारों, तांगों में लादकर जब इस चलित मंचीय सामग्री को लेकर हम इक़बाल मैदान पहुंचे तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था कि धारा 144 लागू होने के बावजूद हमारे पांच सौ अमनपसंद लोगों के टारगेट से छह गुना लोग वहां प्रतीक्षारत थे। पुलिस के पास इस उत्साह और संकल्प को रोकने का मनोबल नहीं था। लिहाज़ा वे इस शांति जुलूस की व्यवस्थाओं में जुट गये।

'सब रंग चादर' जैसे किसी मज़ार पर चढने वाली पवित्र चादर की तरह हो गयी। हर आदमी उसे छूकर देखता। जुलूस में जीपों पर, ठेलों पर नेज़ों पर पतंगें ही पतंगें। ऐसा प्रभावी जुलूस कि पुलिस अफ़सर ने हमारे निर्धारित रूट से 14 किलोमीटर ज़्यादा चलवाया। गोया कि पूरे कथित दंगा प्रभावित क्षेत्र से गुज़रने को मजबूर किया। इस जुलूस में जाति, धर्म, संप्रदाय, पेशा किसी में फ़र्क़ नहीं था। एक झटके में लंबे समय से लगा कर्फ़्यू का आतंक टूट गया। इसमें बेशक बहुतों की मेहनत का योगदान था, लेकिन बंसी की डिज़ाइन ने कमाल कर दिया। लीलाधर मंडलोई भोपाल रेडियो स्टेशन के केंद्र निदेशक थे। उन्होंने इस जुलूस की रनिंग कमेंट्री करवायी। इस तरह दैहिक उपस्थिति के अलावा श्रव्य माध्यम से भी पूरा शहर इस अमन अभियान में जुटा। दूसरे दिन भोपाल कर्फ़्यू मुक्त था। और बच्चे गिर्रियां-पतंगें लेकर सड़कों पर थे। जीवन पटरी पर था।

यह जो था वह रंगकर्म ही था। ऐसा रंगकर्म जो नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत की बतायी रंगपीठ के आयतन और आकार से कहीं बड़ा, पूरे शहर का था। इसमें किरदार प्रोफ़ेशनल्स या शौकिया कलाकार न होकर आमजन थे। एक डिज़ाइन पोस्टरों से भरा हुआ प्रेम गुप्ता का भी था जो सबरंग से मिलकर एक रंग हो गया था।

मुझे लगता है कि एक रंगकर्मी को, एक अभिनेता को, एक रंग निर्देशक को इस तरह समाज का होना चाहिए जैसा बंसी ने करके दिखाया। यह हस्तक्षेपकारी थियेटर है। बंसी की रंग समीक्षा, आलोचना करने वाले बहुत हैं, इसलिए मैंने सोचा - बंसी के रंग-रूट को उनकी स्मृति के साथ खोजा जाये। नहीं मालूम कितना खोज पाया। पर कुछ तो पता चल ही गया होगा कि एक समाज संपृक्त रंग कर्मी का रंग-रसायन कैसे बनता है।

मो. 9753425445

सागर सरहदी का जाना

शम्सुल इस्लाम

सागर सरहदी का जाना एक सपने का भी धूमिल हो जाना है!

कामरेड सागर सरहदी का मार्च 21, 2021 को मुंबई में 87वें साल में देहांत हो गया। मई 11, 1933 के दिन सूबा सरहद के ज़िले एबटाबाद के गांव बफ़फ़ा [अब पाकिस्तान में] में जन्मे सागर सरहदी के वालिद साहब शराब के ठेकेदार थे। मुल्क के बंटवारे के शिकार होकर परिवार के साथ शरणार्थी बनकर बरास्ता श्रीनगर दिल्ली पहुंचे। मोरी गेट, दिल्ली में बस गये। डीएवी स्कूल से हाई सेकेंडरी की। रोज़गार की तलाश में बंबई का रुख़ किया, क्लर्की की, कपड़े की दुकान की, बड़े भाई ने उन्हें पाला।

वे जन्मे तो गंगा सागर तलवार नाम से थे पर अपना प्रगतिशील राजनीतिक और साहित्यिक जीवन सागर सरहदी के नामकरण से शुरू किया। उन्होंने एक बार बताया कि 'मैं ने अपने नाम से 'गंगा' हटाकर 'सागर' जोड़ लिया और अपने वतन सूबा सरहद की पहचान ज़िंदा रखने के लिए 'सरहदी' भी जोड़ लिया।'

वे जीवन भर एक प्रतिबद्ध कम्युनिस्ट रहे। बंबई में बलराज साहनी और ए के हंगल, जो ख़ुद भी देश के बंटवारे का शिकार थे, जैसी हस्तियों का साथ मिला और जनपक्षीय नाट्यकर्म से पूरे तौर पर जुड़ गये। पहले अपना नाट्य संगठन 'द कर्टेन'[पर्दा] बनाया और बाद में 'इप्टा'के साथ जुड़ गये। बंटवारे की त्रासदी को झेलने के बावजूद प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहे। हिंदी, उर्दू, पंजाबी नाटक के लिए ख़ूब काम किया और चर्चित हुए। वे उर्दू के लेखक थे और सारा लेखन उर्दू लिपि में ही करते थे। नाटक से फ़िल्मी दुनिया तक पहुंचे और *बाज़ार*जैसी फ़िल्म बनाकर अपना अलग स्थान बनाया। वे फ़िल्म जगत की एक ऐसी हस्ती थे जो निर्माता, निर्देशक एवं लेखक तीनों के रूप में ख़ासे चर्चित रहे।

अनुभव, चांदनी, दिवाना, कभी-कभी, नूरी, दूसरा आदमी, और *सिलसिला* जैसी फ़िल्में उनकी क़लम का ही कमाल थीं। फ़िल्म जगत में सफलता के बावजूद नाटक के प्रति उनका जुड़ाव कभी कम नहीं हुआ। उनहोंने *तन्हाई, भूखे भजन न होए गोपाला भगतसिंह की वापसी* और *दूसरा आदमी* जैसे नाटकों को न केवल रचा बल्कि उनकी सैकड़ों सफल प्रस्तुतियां भी कीं। मरते दम तक उनका यह सपना था कि जनपक्षीय नाटक के ज़रिये देश पर जो फ़ासीवादी शिकंजा कसता जा रहा है उस के ख़िलाफ़ देश के आम लोगों और ख़ासकर नौजवानों को सचेत किया जाये।

उन्होंने बहुत शोहरत और दौलत कमायी लेकिन अपने जनपक्षीय विचारों, आदर्शों और ईमानदारी की वजह से हिंदी फ़िल्मी दुनिया में फलफूल रही आदमख़ोर पूंजी लगाने वाली जमात के हाथों लूट लिये गये। उनके दस्तख़त वाले झूठे दस्तावेज़ बनाकर कई फ़िल्मों पर उनका क़ब्ज़ा हो गया जो डिब्बों में बंद पड़ी हैं। अपने अंतिम दिनों में मुंबई के सायन नगर के कोलीवाड़ा के उसी घर में लौटना पड़ा जहां से उन्होंने अपना बंबई का सफ़र शुरू किया था। वे किताबों के दीवाने थे, जब भी दिल्ली आना होता उससे पहले किताबों की फ़हरिस्त आ जाती जिन्हें उनके लिए मुझे जमा करना होता था। उनके जुदा होने के बाद उनकी बेमिसाल निजी लाइब्रेरी का क्या हाल होगा कोई नहीं जानता। जब तक उनमें चलने-फिरने की ताक़त रही, वे सरकारी, धार्मिक, जातिवादी और पुरुषवादी ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ हर आयोजन में हिस्सेदारी करना कभी नहीं भूलते थे।

उनके साथ निम्नलिखित बातचीत दिल्ली में मई 1993 में हुई थी। मेरे सवालों के जो जवाब, हिंदी फ़िल्मों, फ़िल्मी दुनिया, उर्दू-हिंदी साहित्य, नाटक के बारे में उन्होंने दिये थे, वे आज भी प्रासंगिक हैं, बल्कि ज़्यादा शिद्दत से हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। वे उस पीढ़ी से आते थे जिस ने धर्म के नाम पर देश के बंटवारे के नतीजे में भयानक ज़ुल्म, हिंसा, और तबाही झेलने के बावजूद इंसानियत, समाजवाद और शोषण से मुक्त सेकुलर समाज बनाने का सपना नहीं ओझल होने दिया और जीवनभर इन सपनों को साकार करने के लिए लामबंद रहे। इसमें कोई शुबह नहीं कि अगर सागर सरहदी की सेहत इजाज़त देती तो वे दिल्ली की सरहदों पर धरना दे रहे बहादुर किसानों के बीच रह रहे होते।

सवाल: *बाज़ार, लोरी, अगला मौसम* जैसी फ़िल्में बनाने के बावजूद बहुत ज़माने से आपने कोई नयी फ़िल्म नहीं बनायी। ऐसा क्यों?

जवाब: यह सच है कि मैंने कई वर्षों से कोई फ़िल्म नहीं बनायी है। इसके बहुत से कारण हैं। एक सृजनकार की तमाम ख़्वाहिशों के बावजूद फ़िल्म बनाने की प्रक्रिया बहुत जटिल और ढेढ़ी खीर की तरह हो गयी है। पैसा लगाने वाले लोग जल्दी से बहुत पैसा बनाना चाहते हैं। इसलिए किसी भी प्रयोग में पैसा लगाने से कतराते हैं। एक वजह कलाकारों का बहुत ज़्यादा महंगा होना भी है। सबसे महत्वपूर्ण कारण मेरी अंतिम फ़िल्म, *लोरी* का नाकाम हो जाना था। विजय तलवार के निर्देशन में बनी इस फ़िल्म को जब पेश किया गया तो एक दिवसीय क्रिकेट मैच उन दिनों छाये हुए थे। दर्शक हॉल में जा ही नहीं रहे थे। इस फ़िल्म की नाकामी ने मेरा घर-बार बिकवा दिया। नयी फ़िल्म बनाने का विचार कई बार दिल दिमाग़ में जोश मारता है लेकिन परिस्थितियां उसकी इजाज़त नहीं देतीं।

सवाल: आप अपनी फ़िल्मों में किस फ़िल्म को सबसे बढ़िया मानते हैं?

जवाब: हर लिहाज़ से *बाज़ार* मेरी सबसे बेहतरीन फ़िल्म है। मैं अपनी बाक़ी सब फ़िल्मों को दिखावटी मानता हूं। *बाज़ार* फ़िल्म एक सच्ची घटना पर आधारित है, मैं एक शादी में हैदराबाद गया था जहां एक भारतीय मूल के एक अमीर विदेशी से भेंट हुई जिस ने शादी के लिए एक 15 साल की बच्ची से दलालों के मार्फ़त शादी की थी। इसने मुझे हिलाकर रख दिया। इस फ़िल्म के सब किरदार मुसलमान थे लेकिन कोई भी स्टीरिओ-टाइप नहीं। *बाजार* बनाने के लिए 22 बार हैदराबाद गया, आम सेकिंड क्लास में। वहां 65 रुपये महीने का कमरा किराये पर लिया हुआ था। इस फ़िल्म को प्रतिबद्धता के साथ हम सबने बनाया था, सब कलाकार और तकनीशियन बहुत कम मेहनताने और सुविधाओं पर इस फ़िल्म को करने पर सहमत हो गये थे, क्योंकि उन्हें इस बात का एहसास था कि मैं इस फ़िल्म को इंसानी एहसासात को उजागर करने के लिए एक जज़्बे के तहत बना रहा हूं। उस दौर का अब लौट पाना बहुत मुश्किल है।

सवाल: आख़िर ऐसा क्या हुआ है कि बंबई की फ़िल्मी दुनिया में ख़्वाजा अहमद अब्बास, गुरुदत्त, बलराज साहनी, पृथ्वीराज कपूर जैसे प्रतिबद्ध और कम बजट की फ़िल्म बनाने वालों की पीढ़ी लुप्त हो गयी है?

जवाब: उसकी वजहें बहुत साफ़ हैं। वे लोग सामाजिक और राष्ट्रीय चितांओं के चलते फ़िल्मों का सृजन करते थे। उनकी फ़िल्मों का सृजन उनके जीवन दर्शन का ही एक हिस्सा था। हर कोई उनकी ललक और प्रतिबद्धता को महसूस करके उनके साथ सहयोग करता था। हर फ़िल्म एक सामूहिक कर्म में बदल जाता था। आजकल लोग फ़िल्म नहीं बनाते हैं बल्कि वो तो एक तरह का उद्योग लगा रहे हैं। फ़िल्म निर्माताओं का एक मात्र उद्देश्य पैसा कमाना है तो अभिनेता और तकनीशियन भी कोई क़ुर्बानी क्यों करें। लोकप्रिय सिनेमा के क्षय का एक कारण फ़िल्मी दुनिया पर तस्करों और अपराधियों के पैसे का बढ़ता नियंत्रण भी है। इस तरह के पैसे के दख़ल ने भारतीय फ़िल्म के साथ दो खिलवाड़ किये हैं। एक तो यह कि इन्होंने फ़िल्मी जगत में इतना धन बहाया है कि कलाकारों की

क़ीमतें आसमान छूने लगीं हैं, दूसरे यह कि अब लोकप्रिय सिनेमा सिर्फ़ हिंसा और सैक्स पर ही निर्भर है। स्मगलर, फ़ाइनेंसर अपनी जीवन शैली की फ़िल्में पर्दे पर चाहते हैं। ज़ाहिर है जिनका खायेंगे, उनका राग अलापना भी पड़ेगा।

सवाल: फ़िल्मी दुनिया में एक लेखक के तौर पर आपने बहुत काम किया है, आपने कई यादगार फ़िल्में लिखीं। क्या आप फ़िल्मी जगत में लेखक की हैसियत से संतुष्ट हैं?

जवाब: फ़िल्म के लिए बुनियादी चीज़ पटकथा है, कहानी कोई भी लिख सकता है । और हां, फ़िल्म की पटकथा कोई *बाइबिल* नहीं होती कि जिसमें कोई तब्दीली नहीं हो सकती। इसे आख़िरी रूप देने में निर्माता, निर्देशक और लेखक में तालमेल होना ज़रूरी होता है। हिंदी फ़िल्मों के लिए लिख रहा कोई भी लेखक मौलिक होने की ज़ुर्रत नहीं कर सकता। अगर लेखक मज़बूत होता है तो अपनी बात मनवा लेता है और अगर लेखक कमज़ोर होता है तो उस के बारे में एक लतीफ़ा मशहूर है :

एक बार शूटिंग के दौरान एक अभिनेत्री ने लेखक से कहा कि फ़लां डायलाग बदल दीजिए। लेखक तैयार नहीं हुआ, जब अभिनेत्री ने ज़िद् की तो लेखक ने रुहांसा होकर कहा, 'यही तो एक उनका डायलाग है जो पटकथा में बचा है, बाक़ी तो सब का सब निर्माता और निर्देशक बदल चुके हैं। इस बात को समझना ज़रूरी है कि फ़िल्मों में पैसे लगाने वाले लोग आमतौर पर सिंधी और मारवाड़ी सरमायादार हैं और डिस्ट्रीब्यूटर सब पैसे वाले लोग हैं । डिस्ट्रीब्यूटर बोलता है, लड़कियां नंगी दिखाओ, मुजरे डालो, बैडरूम सीन डालो। अब तरक़्क़ी यह हुई है कि, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, कि तस्करों और अपराधियों के पैसे की भी रेलपेल हो गयी है। वे अपने किरदारों की शान में बनायी गयी फ़िल्मों में पैसा लगाने के लिए उतावले रहते हैं ।

लेकिन हिंदी फ़िल्मों में अपवाद भी रहे हैं। सआदत हसन मंटो ने भारतीय फ़िल्मों के लिए यादगार पटकथाएं लिखीं। राजेंद्र सिंह बेदी ने विमल दा और ऋषिकेश के लिए ज़बरदस्त पटकथाएं लिखीं। इस सच को भी नहीं झुठलाया जा सकता कि सलीम-जावेद ने हिंदी फ़िल्म के पटकथा लेखन को एक महत्वपूर्ण दर्जा दिलवाया। इन दोनों ने लेखक को फ़िल्मी सितारों के रूप में उभरने का मौक़ा दिया, कसकर पैसे वसूले। आज हिंदी फ़िल्म में पटकथा लेखक जो खा कमा रहे हैं उसकी वजह भी सलीम-जावेद ही हैं।

सवाल: फ़िल्म के पटकथा लेखन के क्षेत्र में आप अपनी भूमिका को लेकर संतुष्ट हैं?

जवाब: नहीं, पटकथा लेखन बहुत चीज़ों से तय होता है। मैंने यह ईमानदार प्रयास ज़रूर किया है कि अपनी पसंद की फ़िल्में लूं, मेरे थैले में हर तरह का माल नहीं है। मैं किसी भी ऐसी फ़िल्म के लिए काम नहीं करता जो औरत के खिलाफ़ हो। मेहनतकशों के ख़िलाफ़ हो, या जातिवादी और सांप्रदायिक घृणा का शिकार हो। मैं अपने लेखन में मद्रासी फ़ार्मूले और अश्लील लटकों का इस्तेमाल नहीं करता। यह सचेतन प्रयास होता है कि मैं अपनी फ़िल्मों में इंसानी मान्यताओं को उभारूं। आप देखेंगे कि मेरी फ़िल्मों में महिला पात्र बहुत सशक्त होते हैं।

सवाल: फ़िल्म और रंगकर्म में आपको ज़्यादा क्या पसंद है?

जवाब: मैं दरअसल थियेटर का ही आदमी हूं, हमेशा नाटक ही करना चाहता था। मैंने अपना ग्रुप, 'द कर्टेन' और बलराज साहनी ने अपना ड्रामा संगठन 'जुहू थियेटर' बंद करके बंबई में 'इप्टा'शुरू किया था। हम लोग बस्तियों में जाते, छोटे-मोटे हॉलों में जाकर नाटक करते। जब पैसे की बहुत तंगी होने लगी तो मैंने थियेटर को नहीं त्यागने का फ़ैसला किया और ख़र्चा निकालने के लिए टैक्सी ड्राइवर बनना तय किया। उसके लिए लाइसेंस भी बनवाया। दोस्तों के मजबूर करने पर मैंने बासु भट्टाचार्य की पहली फ़िल्म, *अनुभव* के डायलाग लिखना मंज़ूर किया। फ़िल्मी दुनिया में मैं इसलिए आया कि मैं सार्थक रंगमंच करना चाहता था। अपने उसी लगाव के चलते मैंने यह भी फ़ैसला कर लिया था कि मैं शादी नहीं करूंगा।

सवाल: प्रगतिशील नाट्यकर्मियों के सामने आज क्या चुनौतियां हैं?

जवाब: मुझे लगता है कि प्रगतिशील नाट्य आंदोलन की समस्याएं संगठन संबंधी उतनी नहीं है जितनी कि बौद्धिक और वैचारिक हैं। हम में से ज़्यादातर लोग भूतकाल में ही जी रहे हैं। हम सच्चाई की आंखों में आंखें डालने से कतराते हैं। पढ़ना-लिखना तो हम लोगों ने बंद ही कर दिया है। ज़्यादातर नाट्यकर्मियों की समस्या यह है कि वे यूरोपीय नमूनों की नक़ल करते हैं। इब्सन से शुरू करते हैं और अलगाववाद से होते हुए एब्सर्ड थियेटर तक पहुंचते हैं और अंत सनसनी फैलाने वाले नाटकों पर होता है। हमें इन सबसे बचना है। हमारे देश के नाट्य कर्मियों को इस देश की सच्चाई के सबक़ खड़े करने होंगे। हमें अपने देश की परिस्थितियों के संदर्भ में ही एक वैकल्पिक थियेटर विकसित करना होगा। मैं अपना बाक़ी समय इसी काम में लगाना चाहता हूं।

सवाल: मुल्क में और ख़ासतौर पर बंबई में जो मज़हबी दंगों का दौर चल रहा है इस पर आप की क्या राय है?

जवाब: इसे मैंने बहुत क़रीब से देखा है। बंबई शहर का जलना अब आम बात हो गयी है। इसके लिए में कांग्रेस को सब से ज़्यादा ज़िम्मेदार मानता हूं। इसने हमारे मुल्क को ऐसे तबाह किया है जिसका ब्यान नहीं किया जा सकता। यह दंगे कराती है फिर बंद कराती है। शिव सेना पैदावार किसकी है? कांग्रेस के चीफ़ मिनिस्टर वी पी नाइक ने पैदा करायी ताकि मज़दूर तहरीक पर कम्युनिस्टों का असर ख़त्म कराया जा सके।

मो. 9968007740

सागर सरहदी की याद को नमन

शैलेश सिंह

सागर सरहदी की गालियां फ़क़ीरों की दुआओं की तासीर थीं।

आज सुबह नींद की खुमारियां, चाय की चुस्की व अख़बार की सुर्ख़ियों से दूर करने के सामान्य- से नुस्ख़े को आज़मा ही रहा था, तभी सुदूर मुंबई से साथी रमन मिश्र का फ़ोन आया। आमतौर पर रमन जी इतनी सुबह फ़ोन नहीं करते। दरअसल, वे ख़ुद रतजगा करते हैं और सुबह मुर्ग़े की बांग या मस्जिद की अज़ान या चिड़ियों की कर्णप्रिय कलरव से नहीं बल्कि दस बजे सब्ज़ी के ठेले वाले के लयात्मक क्रय निवेदन, जिसकी आवाज़ में आरोह-अवरोह के साथ एक ख़ास तरह की लरज होती है, जिसके घनात्मक स्वर आघात के बलात् से उनके नेत्र उन्मीलित होते हैं और अंगड़ाइयां लेते हुए बिस्तर को शुभ प्रभात कहकर ज़मीन पर पांव रखते हैं, चुनांचे साढ़े पांच या कि पौने छह बजे फ़ोन पर उनका नंबर देखते ही किसी अंदेशे का सहज ही अंदाज़ा सा हो गया। आदाब का फ़र्ज़ निभाऊं उससे पहले ही उन्होंने कहा, 'यार यारों के यार सागर साहब नहीं रहे।' उनके वफ़ात की ख़बर सुनकर भी सहसा यक़ीन नहीं हुआ। दो बार तस्दीक करने के बाद उन्होंने कहा, 'सच मित्र सागर सरहदी साहब इस फ़ानी दुनिया को छोड़ कर सदा-सदा के लिए प्रस्थान कर गये।

अभी दो दिन पहले ही हम लोग भगत सिंह की शहादत दिवस पर उन्हें भाषण के लिए आमंत्रित करना चाहते थे, पर पता चला कि उनकी तबीयत कुछ नासाज़ है। वे इस नशिस्त में शिरकत नहीं कर पायेंगे। जैसा कि विदित हो शहीदेआज़म भगत सिंह पर उनका एक बेहद मक़बूल व कामयाब नाटक है, जिसके हजारों प्रदर्शन हो चुके हैं।

करोना / कोविड--19 महामारी के कहर के पहले

सन् 2018 में हम लोगों ने उन्हें मीरारोड के निहाल कार्नर के नुक्कड़ पर इसी निमित्त बुलाया था, हालांकि उस समय भी उनकी तबीयत दुरुस्त नहीं थी, पर वे आये और जमकर बोले। उनकी तक़रीर आज भी मीरा रोड को लोग न केवल याद करते हैं, अपितु दूसरी नशिस्तों से उसकी तुलना भी करते हैं। सागर सरहदी की तक़रीर मीरा रोड के लोगों के लिए एक मिसाल बन गयी थी।

सागर सरहदी से मेरी मुलाक़ात भी अजीब ढंग से हुई। मैं उन दिनों सेंट ज़ेवियर्स इंस्टीट्यूट ऑफ़ एजुकेशन एंड ब्वायज़ एकेडमी में बतौर मुदर्रिस मुलाज़िम था। मुंबई जैसे महानगर में अदबी जलसों, नशिस्तों, महफ़िलों में शिरकत किया करता था। बावजूद इसके सागर सरहदी से किसी अदबी प्रोग्राम में मुलाक़ात नहीं हुई। दोपहर के क़रीब ढाई बज रहे होंगे काम के दबाव से फ़ारिग़ हो कर दोस्तों के साथ ऊलजलूल बातें कर रहा था, तभी कथाकार मित्र विजय यादव के साथ ढेरों पत्रिकाओं से भरी वारली पेंटिंग्स से सुसज्जित थैले लिये जनाब सागर सरहदी दाख़िल हुए। इससे पहले कि औपचारिक परिचय हो, उन्होंने छूटते ही कुछ देशज गालियों से मेरा स्वागत किया! उनके इस संबोधन से स्टाफ़ रूम में बैठे लोग सकते में आ गये। विजय यादव मंद मंद मुस्कुरा रहे थे। इससे पहले कि उनके गाली कोश से और गालियां निकलें, मैं उन्हें और विजय यादव को लेकर सम्मान रेस्टोरेंट की ओर

चला । रसम वड़े के लज़ीज़ स्वाद ने उनके गालियों के शब्द कोश को कुछ देर के लिए बंद-सा कर दिया। कुछ देर तक *हंस* में प्रकाशित महत्वपूर्ण कहानियों की चर्चा होती रही, फिर बातचीत का सिलसिला राजनीति की तरफ़ मुड़ गया। सी पी एम, सी पी आइ की कांग्रेस के साथ नज़दकीयों को उन्होंने ख़ूब कोसा और जमकर गालियां दीं।

सागर सरहदी का रुझान वाम की 'एम एल' राजनीति से था। वे सभी 'एम एल' संगठनों से गहरी सहानुभूति रखते थे। ज्वालामुखी, वरवर राव और तमाम दीगर कवियों को उन्होंने बुलाया और उनसे गुफ़्तगू की, उनकी कविताओं का पाठ रखवाया और 'एम एल' राजनीति की सफलताओं और असफलताओं पर चर्चा भी की।

वैसे देखा जाये तो सरहदी साहब बेहद भावुक स्वभाव के रचनाकार थे। बात उन दिनों की है, जब 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' शीर्ष पर था। वे एक जनसभा में गये और वहां उन्होंने 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' की नेत्री मेधा पाटकर को सुना और वे उनके मुरीद हो गये। उन दिनों मध्यप्रदेश की नर्मदा घाटी में उनका आंदोलन चल रहा था। हरसूद को डूबने से बचाने के लिए मेधा पाटकर आरपार की लड़ाई लड़ रहीं थीं। भोपाल में धरना प्रदर्शन जारी था। सागर साहब सबकुछ छोड़कर मेधा पाटकर के साथ हो लिये और महीनों उनके साथ विभिन्न जगहों पर आंदोलन में हिस्सेदारी करते रहे। वे मेधा पाटकर की सादगी, ईमानदारी, संगठन क्षमता और पारदर्शी व्यक्तित्व की तारीफ़ करते अघाते नहीं थे। लगभग चार महीने बाद वे 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' से वापस मुंबई लौटे और 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' पर डाक्यूमेंट्री बनाने की बात हम लोगों से करते रहे। इस संदर्भ में उनके पास सामग्री और फ़ुटेज पर्याप्त मात्रा में थी, पर किन्हीं कारणों से वे इसे क्रियान्वित नहीं कर सके। मेधा पाटकर के बारे में वे कहते 'उसके काम में ज़बरदस्त सौंदर्य है। उसका लोगों से जुड़ने का तरीक़ा नायाब है। मेधा के काम को देखकर मैं ख़ूबसूरती क्या होती है यह जान सका। सादगी का मोहक सौंदर्य, पारदर्शिता का आकर्षक सौंदर्य और भाषा के बरतने का अनुपम सौंदर्य --- इस त्रिगुण समुच्चय में घुली है मेधा पाटकर की ख़ूबसूरती। धीरे धीरे नर्मदा और मेधा पाटकर के आंदोलन के असर की खुमारी कम हुई और वे अपने पुराने 'एंग्री यंग मैन' की भूमिका में पुनः दाख़िल हुए।

वे उर्दू में लिखते थे, पर पढ़ते हिंदी और अंग्रेज़ी ही थे। उनके पास किताबों का बेहतरीन कलेक्शन था। सिनेमा के विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में उनके पास सैकड़ों किताबें थीं। अंग्रेज़ी, हिंदी, पंजाबी, उर्दू भाषाओं की किताबें, पत्रिकाएं और अख़बार उनके यहां नियमित आते रहे। किताबें, पत्रिकाएं , शराब और लज़ीज़ खानों पर वे दिल खोलकर ख़र्च करते थे। तीन कमरे के फ़्लैट में दो कमरे किताबों के रंग बिरंगे चमकते कवर से हमेशा रोशन रहते थे। किताबों को ले जाने की हर किसी को पूरी छूट थी। उनके यहां एक रजिस्टर रखा रहता था, आपको जो भी किताब पढ़नी हो उसका नाम और अपना नाम लिखिए और ले जाइए। अधिकतम दो महीने के लिए वे किताबें पढ़ने के लिए देते थे। उनका मानना था कि वैसे तो पंद्रह दिन में कोई भी किताब पढ़ी जा सकती है, पर मुंबई जैसे शहरों की मसरूफ़ियत को देखते हुए उन्होंने दो महीने का वक़्त मुक़र्रर किया था। वे कहते थे, 'जब आप दो महीने में कोई किताब नहीं पढ़ सकते हैं तो पूरी ज़िंदगी आप उसे नहीं पढ़ सकते।

सागर सरहदी जितना किताबों के शौकीन थे उतना ही खानों के । उन्हें देश के विभिन्न शहरों में कौन-सा व्यंजन स्वादिष्ट पकता है, इसका पता था। मुंबई के हर उपनगर के उम्दा रेस्तरां की न केवल जानकारी थी, बल्कि दोस्तों के साथ वे अक्सर जाया करते थे। वे खाने और खिलाने के बेहद शौकीन थे। इस संदर्भ में उनकी उदारता का कोई सानी नहीं था। भोजन का बिल कितना ही क्यों न हो वे सदैव आगे बढ़कर चुकाते थे। मुझे लगता है उनकी आय का बहुत सारा हिस्सा किताबों और भोजन में ही ख़र्च होता रहा होगा। कृपणता उनके स्वभाव का हिस्सा नहीं था। मेहमाननवाज़ी उनका विशेष शगल था।

सागर सरहदी जनवादी लेखक संघ के हर कार्यक्रम में सहर्ष शामिल होते तथा अपनी टिप्पणी और

तक़रीर से हम सबको लाभान्वित करते। सागर सरहदी अपनी सहमतियों और असहमतियों को खुलकर ज़ाहिर करते थे। अपनी नाराज़गियों, आलोचनाओं और क्रोध को प्रकट करने में वे ज़रा भी शील-संकोच नहीं करते।

एक बार की बात है, सुधा अरोड़ा का कहानी पाठ आयोजित किया गया था। लेखक, अनुवादक आत्माराम जी सुधा जी की कहानी पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। आत्माराम जी का अंदाज़ेबयां कुछ और ही था। वे दायें- बायें घूम-घूमकर हाथों को हवा में लहरा लहरा कर सप्तम स्वर में बोल रहे थे। उनके वक्तव्य में मराठी और अंग्रेज़ी लेखकों के उद्धरणों की भरमार थी। वे तमाम उद्धरणों से यह कहना चाहते थे कि सुधा अरोड़ा ने अपनी कहानी में स्त्री विमर्श को एक नया आयाम दिया है। उनकी बात चल ही रही थी कि सागर सरहदी सहसा उठ खड़े हुए और ज़ोर से कहा, 'बंद करो अपनी ये बकवास, हम सब तुम्हारे स्टूडेंट्स नहीं हैं, जो बातें आप कह रहे हैं, वे हम सब जानते हैं।' आत्माराम ने उसी रौ में कहा यदि आप मेरी बात नहीं सुन सकते तो खुशी से आप बाहर जा सकते हैं! सागर सरहदी ने उसी दृढ़ता से कहा, 'मैं नहीं तुम बाहर जाओगे' और उन्हें बाहर भेजने का दबाव बनाने लगे। हम लोगों के सामने बड़ी अजीब-सी स्थिति पैदा हुई। कैसे स्थिति को संभाला जाये।? यह संकट पेश्तर था, अंत में सबके कहने पर आत्माराम जी ने अपनी तक़रीर अधूरी छोड़ी और बैठ गये। इस तरह से परिस्थिति को संभाला गया। यह आत्माराम जी की उदारता थी, जो उन्होंने सबकी बात मान ली। कहने का तात्पर्य यह कि सागर सरहदी अपनी बात कहने में ज़रा भी शील-संकोच नहीं करते थे।

बहुत दिनों बाद उन्होंने एक नाटक, *राजदरबार* लिखा। उसे कुछ कलाकारों को लेकर उन्होंने निर्देशित भी किया। नाट्य प्रस्तुति में हम सभी मित्र शामिल हुए, पर नाटक की कहानी और निर्देशन बहुत बिखरा-बिखरा था। हम लोग बीच में ही नाटक छोड़ कर चले आये। सागर सरहदी को यह बात बहुत नागवार गुज़री। उन्होंने फ़ोन पर बहुत गालियां दीं और कुछ दिनों के लिए संवाद बंद कर दिया। दो वर्षों के बाद उनसे फिर संबंध सामान्य हुए।

भगतसिंह की स्मृति गोष्ठी में वे हर बार न केवल शामिल होते बल्कि अपने वक्तव्य से गोष्ठी को मानीखेज़ बनाते। सागर सरहदी की ज़ुबान पर गालियां धरी रहती थीं। बिना गालियों के उनसे संवाद संभव ही नहीं था। उनकी गालियों में मुहब्बत की चाशनी होती थी। उनकी गालियां स्नेह का गुलदस्ता होतीं थीं। यदि आपसी संवाद में वे औपचारिक हुए तो समझिए आपको वे पसंद नहीं करते हैं। उनके पास गालियों का ख़ज़ाना था। वे पंजाब के दूर-दराज़ इलाक़ों में प्रयुक्त होने वाली गालियों का इस्तेमाल करते थे। उनकी गालियों में भी एक लालित्य था। उनकी गालियां किसी फ़क़ीर की दुआओं से कम नहीं थीं।

सागर सरहदी ने सिनेमा को रोमान की एक नयी ज़ुबान दी। मोहब्बत के पूंजीवादी नज़रिये/ फ्रेम से अलहदा उन्होंने ज़िंदगी की उलझनों, संघर्षों, ख़ूबसूरतियों और श्रम के रसायन से एक ख़ूबसूरत भाषा या कहें जीवन राग रचा। उसे शब्दों और भावों की अद्वितीयता प्रदान की। *कभी कभी*, *नूरी*, *सिलसिला*, *चांदनी*, *फ़ासले*, *बाजीगर*, *अंदाज़* और *कहो ना प्यार है*, जैसी फ़िल्मों की पटकथा और संवाद लिखकर अपनी भाषा व दृष्टि का लोहा मनवाया।

बाज़ार फ़िल्म उनके जीवन और रचनात्मकता की हासिल फ़िल्म है। *बाजार* के निर्देशन ने उन्हें देश के शीर्ष फ़िल्मकारों की श्रेणी में ला खड़ा किया। प्रेम और स्त्री मुक्ति को लेकर उनकी फ़िल्म, *बाज़ार* हिंदी सिनेमा ही नहीं, विश्व सिनेमा की ख़ूबसूरत व मानीखेज़ फ़िल्मों में से एक है। *बाज़ार* से सागर सरहदी ने धन और यश दोनों कमाये। *बाज़ार* की सफलता के बाद उन्होंने, *तेरे शहर में* और *चौसर* नामक फ़िल्में बनायीं, पर ये दोनों फ़िल्में किन्हीं कारणों से चल न सकीं। इन फ़िल्मों की असफलताओं से सागर सरहदी को बहुत आर्थिक नुक़सान उठाना पड़ा। वे भीतर से टूट-से गये, कर्ज़ का बोझ न उठा सके।

बाद में रूसी साहित्य के बेहद मक़बूल लेखक मैक्सिम गोर्की के मशहूर उपन्यास, *मां* पर उन्होंने

दूरदर्शन के लिए एक धारावाहिक बनाने का निर्णय लिया था। उनकी यह महती योजना दूरदर्शन (मंडी हाउस) से पास भी हो गयी थी, पर किन्हीं कारणों से वह प्रोजेक्ट साकार नहीं हो पाया।

सागर सरहदी में रचनात्मकता, कला कौशल और विचारों की दृढ़ता के साथ साथ लोक जीवन की ख़ूबसूरती को समझने और उसे सिनेमा में रूपायित करने का कमाल का हुनर और दृष्टि थी। सिनेमा में गीत-संगीत की अहमियत को *बाज़ार* फ़िल्म से देखा व समझा जा सकता है।

सागर सरहदी का एक संघर्ष यह भी था कि उर्दू भाषा को कैसे आधुनिक संवेदनाओं से लैस किया जाये। विशेषकर उसमें लिखी जा रही शायरी को कैसे अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के सामंतीय सौंदर्यबोध से बाहर निकाला जाये, उसे आधुनिक संवेदनाओं और उसके सौंदर्य से सुसज्जित किया जाये। शहीदे आज़म भगतसिंह पर फ़ुल लेंथ प्ले लिखकर उन्होंने यह रास्ता भी दिखाया।

सागर सरहदी रचनात्मक ऊर्जा से भरे रहते थे। मायूसी उनकी फ़ितरत में थी ही नहीं। वे एक जिंदादिल इंसान थे। ज़िदगी की ख़ूबसूरती उनके रोम रोम में भरी थी। उदासी, अकेलापन और अवसाद जैसी आधुनिक बीमारियों से उन्होंने न केवल अपने को बचाये रखा, अपितु अपने सर्किल में भी इन बीमारियों को आने नहीं दिया। उन्होंने अपने चाहने वालों से बेपनाह मुहब्बत की और भरपूर स्नेह दिया। उन्हें जीवन व समाज की अहमियत और ख़ूबसूरती समझायी। गालियां उनकी घृणा और विद्रूपता की बायस नहीं थीं। वे जिंदादिली को व्यक्त करतीं थीं। वे गालियों का इस्तेमाल जीवन के लालित्य को, उसकी विशेषताओं को अभिव्यक्त करने के लिए करते थे। उनकी गालियां फ़कीरों, संतों की दुआओं के मानिंद हुआ करतीं थीं। उनके चाहनेवालों को उनकी याद ताउम्र न केवल आयेगी, बल्कि सतायेगी। ऐसे जीवन व सौंदर्य से भरे एक मुकम्मल रचनाकार के निधन से मुंबई का साहित्यिक संसार बेहद नीरस और वीरान सा हो गया है। हम मुंबई के जनवादी लेखक संघ के साथी, मित्र उनके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

मो. 9969345438

विशेष स्मरण

डॉ. महादेव साहा : चलते-फिरते विश्वकोश

श्रीनारायण पांडेय

डॉ. महादेव साहा जी (जन्म : अज्ञात, मृत्यु : 14 अप्रैल 2002) हिंदी जन-समाज में 'दादा' नाम से परिचित थे। विचारों में मार्क्सवादी, जीवन शैली में गांधीवादी। वे चलते फिरते विश्वकोश थे। कोई भौतिक संपदा उनके पास नहीं थी। न घर, न द्वार। अगर कुछ था तो बस किताबें। कहते थे कि किताबें इतनी होनी चाहिए कि उसी से शव जला दिया जाये। हम जब बनारस से बी.ए. पास कर कलकत्ता (तब वह कलकत्ता ही था, कोलकाता नहीं) आ रहे थे, उस समय नामवर सिंह ने कहा था कि कलकत्ता जा रहे हैं तो डॉ. दादा से ज़रूर मिलिएगा। कलकत्ता आने पर मैं अलीमुद्दीन स्ट्रीट में स्थित *स्वाधीनता* कार्यालय में उनसे मिलने गया। वहीं पर अयोध्या सिंह, सूर्यदेव उपाध्याय, महावीर सिंह, बाद में इसराइल और अरुण माहेश्वरी से भी परिचय हुआ। उन दिनों साहा जी चीनी स्कूल के एक कमरे में रहते थे। कमरा किताबों से भरा, सोने की चौकी पर भी किताबें। वहां से दिलकुशा रोड, राय मेंसन, लेक रोड, फिर कुछ दिनों अरुण माहेश्वरी के यहां भी रहे। अंतिम दिनों में दिल्ली चले गये।

साहा जी अपने बारे में बहुत कम बात करते थे। कब कम्युनिस्ट पार्टी में आये, कहां शिक्षा दीक्षा हुई, कुछ नहीं। गांव गिराव की चर्चा तो बहुत दिनों बाद अपने एक पत्र में की। मगर देश दुनिया के बारे में जानकारी का कोई अंत नहीं। उनके नाम के साथ 'साहा' देखकर बंगाली तो उन्हें बंगाली ही समझते थे, क्योंकि बांग्ला पर बांग्लाभाषी जैसा अधिकार था। हिंदी, बांग्ला और अंग्रेज़ी में उनकी ख़ासी पैठ थी। हिंदी वाले भी उन्हें बंगाली ही समझते थे, इसीलिए उनके नाम के साथ 'दादा' चल पड़ा। उन्होंने इस भ्रम को कभी तोड़ा भी नहीं। जब वे कलकत्ता से दिल्ली चले गये, तब उन्हें घर की याद आयी, बचपन याद आया। याद आये बचपन के संगी-साथी। मुझे लगता है, इसे उन्होंने प्रचारित भी न किया होगा। हमें पत्र में यह सब लिखने का कारण यह था कि हम उनके गांव-भाई थे। मुझे भी बाद ही में पता लगा कि इनका घर तो हमारे घर से महज़ दो कोस यानी छह किलोमीटर दूर, गांव अमोली, ज़िला भदोही, उत्तर प्रदेश में है। परिवार बचपन में ही कलकत्ता आ बसा, फिर यहीं के हो गये। परिवार की जाति बनिया रही है। यहां एक पत्र उद्धृत कर रहा हूं। मैं उन दिनों वर्धमान विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर इलाहाबाद आ गया था। वे उन दिनों दिल्ली चले गये थे और 12 विंडसर प्लेस में रह रहे थे।

> प्रिय श्रीनारायण जी,
>
> आशा है, सपरिवार सकुशल हो।... मैंने अपने गांव वालों से संपर्क करना चाहा, कई चिट्ठियां लिखीं, उत्तर नदारद। अमोली स्कूल के शिक्षक श्री रामेश्वर प्रसाद ने सब लिख भेजा। गांव वाले अब डेढ़ सौ गज़ की दूरी पर जंघई गोपीगंज की सड़क पर बस गये हैं। यहां से वे कुछ व्यापार आदि भी कर सकते हैं। कुछ दुर्गागंज और सुरियावां चले गये हैं।
>
> गांव के जमींदार ठाकुर भगवती सिंह 95 के हैं। वे और गांव वाले [बुलाना] चाहते हैं। वहां जाने पर तुम्हें लिखूंगा।
>
> तुम्हारा
> महादेव साहा
> 29/10/2000

शायद ही कोई ऐसा हो जिसे अपनी जन्मभूमि की याद भावविह्वल न कर देती हो। ऊपर ऊपर से देखने पर साहा जी बड़े कठोर लगते थे। यहां उनकी सहृदयता के परिचायक एक पत्र से कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूं :

(डॉ. कैलाशनाभ पांडेय [हमारे भतीजे]) की चिट्ठी बराबर मिलती है। वह घर आते जाते बीच से ही निकल आते हैं, अब एक बार इधर होकर गये तो उनके संग ही गांव घर की ओर जाने का विचार है।

अमोली स्कूल के प्रधान शिक्षक बड़े सज्जन हैं। उन्हीं से पता चला है, ठाकुर रघुराज सिंह ज़मींदार के जिस पुत्र को मैं शैशव में छकौड़ी सिंह के नाम से जानता था, वह रघुराज सिंह के पुत्र भगौती सिंह हैं। 100 वर्ष के हो गये हैं। चाहते हैं कि मैं एक बार उधर जाऊं।

अमोली स्कूल के प्रधान शिक्षक दुर्गागंज में रहते हैं, दोनों बेटे दवा का काम करते हैं। कहा है कि आने पर उन्हीं के यहां टिकूं। जाने आने में सुविधा होगी।

अमोली का जो हिस्सा बाज़ार कहलाता था, वह अब टूट फूट गया है। मेरे दरवाज़े का सुविशाल नीम का पेड़ सबकी याद कर रहा है।

बाजार अब पुरानी जगह से कुछेक गज़ पर सड़क के किनारे बस गया है। अमोली के 'सोनार' दुर्गागंज और सुरियावां में बस गये हैं। दो हलवाई कहां बसे नहीं जानता।

एक ज़रूरी काम है। ऊंट में लदनी करके जो अनाज आदि का काम करते हैं, उनमें कुछ एक प्रकार का गाना गाते हैं जो 'पितया' कहलाता है। एक टुकड़ा याद है, 'दुर्गा के चढ़ै मुर्गा और माई (काली) के चढ़ै बलिदान'। कई गाने लंबे लंबे भी हैं। मुट्ठीगंज में जहां अनाज का बाज़ार है, वहां किसी से परिचय करने से वे पितया गानेवालों से परिचय करा देंगे। गोपीगंज, जंघई आदि में भी वे मिलेंगे।

मेरा स्नेह और शुभकामनाएं लेना

तुम्हारा
महादेव
14/12/2001
12, Windser Place
New Delhi-110001
1

इसके पूर्व का सन् 2000 का पत्र भी इसी से मिलता जुलता है। मैंने दोनों को इसलिए उद्धृत किया कि एक बार गांव जाने की इच्छा और दरवाज़े के सुविशाल नीम की याद उन्हें भीतर ही भीतर साल रही थी। काश, देख पाये होते! बिना देखे ही चले गये। गांव और गांव की संस्कृति से उनका अगाध प्रेम था। कई पत्रों में उन्होंने लिखा है कि गांव की संस्कृति का अध्ययन करना चाहिए।

गांव घर का पता तो उनके पत्रों से लग जाता है मगर कलकत्ता का ठौर ठिकाना अज्ञात ही है। हां, इतना देखा था कि बंगाल के विद्वत समाज में वे समादृत थे। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ. शशि भूषण दासगुप्त, गोपाल हालदार आदि उनकी इज़्ज़त करते थे। डॉ. शशि भूषण दासगुप्त की पुस्तक *राधार क्रम विकास* का उन्होंने हिंदी में अनुवाद किया था।

उनका राजनीतिक गुरु कौन था, नहीं मालूम, मगर साहा जी विवेकानंद के छोटे भाई भूपेंद्र नाथ से बहुत प्रभावित थे। उनके ही टेदुआ तालाब के पास वाले मकान में साहा जी के साथ मैं भी गया हूं। वे कम्युनिस्ट पार्टी के साथ कब जुड़े, इसकी जानकारी मुझे नहीं, किंतु अलीमुद्दीन स्ट्रीट वाले पार्टी ऑफ़िस में जो लोग उनसे मिलते-जुलते थे, उनसे लगता था कि साहा जी बहुत पुराने कार्यकर्ताओं में से थे। पहले संयुक्त पार्टी में थे, विभाजन होने पर 'कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी' के सदस्य बने, और आमरण उसी में बने रहे।

बंगाल के बुद्धिजीवियों और राजनीतिक सहकर्मियों के साथ उनका संबंध कैसा था, यह नीचे उद्धृत पत्र में देखा जा सकता है। सीपीआइ ने अपनी बांग्ला पत्रिका *परिचय* का एक अंक गोपाल हालदार पर निकाला था। हमने साहा जी को उसके बारे में लिखा था। उसी संदर्भ में उन्होंने 24.11.94 को यह पत्र लिखा :

12, Windser Place
New Delhi-110001

प्रियवर, पत्र के लिए धन्यवाद। 18.10 का लिखा पत्र देर से पहुंचा।

गोपाल हालदार पुराने मित्र थे। मृत्यु के कुछ ही दिन पहले अंतिम बार भेंट हुई थी। पुराने जातीयतावादी आंदोलन से 1942 के समय पार्टी में आये थे। पार्टी के विभाजन के समय पुरानी पार्टी में ही रहे।

उनमें कट्टरता नहीं थी। सार्थक साहित्य भी काफ़ी मात्रा में सृजन कर गये हैं। संस्कृति पर किताबें और निबंध संग्रह हैं। अच्छे उपन्यासकार और निबंध लेखक थे।

कुछ वर्ष सुनीति कुमार के Research Associate रहे। *Comparative Grammer of Eastern Bengal Dialects* थीसिस है जिसे पेश कर डॉक्टर नहीं बने। अंग्रेज़ी साहित्य के विद्यार्थी थे। अपने ज़िले नोआखाली में कुछ दिन पढ़ाया भी था।

मित्रों परिचितों की सहायता के लिए तैयार रहते थे। यह काम आजीवन किया। *परिचय* से पुराना संबंध था। अंक निकाल कर अच्छा किया। अंक हमने देखा नहीं है, तुम अच्छी तरह पढ़ो, जो पूछना हो पूछो। इसके बाद लिखो।

गोपाल बाबू जाने-माने मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे। सुनीति बाबू के शिष्य थे। सुनीति बाबू साहा जी को भी मानते थे। इसी पत्र में साहा जी ने इसका भी उल्लेख किया है कि '(सुनीति बाबू ने) अपने शिष्य और सहकर्मी सुकुमार सेन और गोपाल हालदार को एक एक पुस्तकें समर्पित कर गये हैं। एक मुझे भी समर्पित की थी। कुछ लोगों को अचरज हुआ। मैंने मना किया था लेकिन सुनवाई नहीं हुई।' और भी बहुतेरे बांग्ला बुद्धिजीवियों के साथ उनके संबंध थे। हमने डॉ. शशि भूषण दासगुप्त का उल्लेख किया है, जिनकी पुस्तक *राधार क्रम विकास* का अनुवाद साहा जी ने *राधा का क्रम विकास* नाम से हिंदी में किया था। जब शशि बाबू *चर्या गीति* पर काम कर रहे थे, तब डॉ. साहा ने राहुल जी द्वारा संग्रहीत सामग्री देकर उनकी मदद की थी।

हिंदी बुद्धिजीवियों में तमाम मार्क्सवादी और 'ग़ैरमार्क्सवादी बुद्धिजीवी उनकी ज्ञान संपदा से उपकृत हुए हैं। मैं विशेष रूप से राहुल जी और उनके संबंधों की चर्चा करूंगा। राहुल जी कलकत्ता आये थे तो मैं भी साहा जी के साथ उनसे मिलने गया। पश्चिम बंगाल में प्रेमचंद और राहुल जी पर बड़े धूमधाम से आयोजन किये गये थे। वर्धमान विश्वविद्यालय में राहुल पर हुए आयोजन में साहा जी गये थे। उसके बाद उनसे जो ख़तो-किताबत हुई थी, उसके कुछ अंश दे रहा हूं।

दिल्ली से 4.3.91 के एक पोस्ट कार्ड में लिखा है कि

केदार भाई [राहुल सांकृत्यायन] 8 अप्रैल 1992 को 99 पूरा करेंगे। पटना के मित्रों ने सुझाव मांगा था। दे दिया है। अभी से 100 वीं वर्षगांठ का उत्सव शुरू करें। पिछले साल 9 अप्रैल को वहां के गणमान्य लोगों ने बड़ी एक सभा की थी। जीवन यात्रा के दो ही खंड कुछ परिश्रम से लिखे गये हैं। यूं उसके 5 खंड हैं। केदार भाई सैगर (अधिक) लिखने में विश्वास करते थे। प्रतिक्रियाशील चीज़ें भी लिख गये हैं। पी०पी०एच० से 'विविध प्रसंग' मंगाकर पढ़ना।

भारत के मुसलमानों की भाषा, खाना और लिबास वही हो जो बहुमत का है - ऐसी बातों के लिए पार्टी से निकाले गये थे। माफ़ी मांग कर फिर पार्टी में आये। कम्युनिस्ट की हैसियत से केदार भाई मेरे शिष्य थे। मेरा स्नेह बना हुआ है।

दिल्ली से ही 15.2.92 को पोस्ट कार्ड लिखा:

20, R.P.Road.
New Delhi-110001

प्रियवर,

पत्र के लिए धन्यवाद।

केदार भाई [राहुल सांकृत्यायन] की जन्मशती मनाने के लिए बांग्ला अकेडमी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ते के बांग्ला के प्रकाशक जितने आग्रही हैं, वह बात अभी तक हिंदी में कहीं नहीं दिखायी पड़ रही है। निश्चित है कि आगे आग्रह पैदा होगा। ... दो वर्ष पहले] *राहुल स्मृति* नामक एक बड़ी पुस्तक निकली है। कई दर्जन लोगों ने उनके बारे में लिखा है। ग़लतियों की कमी नहीं है। बेवकूफ़ियां भी हैं।

तुम्हारा
महादेव साहा

और भी कई ऐसे पत्र हैं, जिनमें राहुल जी की चर्चा है। ज़ुबानी संस्मरण तो कई बताया करते थे।

हिंदी के और भी लेखकों के लेखन से उनका परिचय था। इस ज्ञान अर्जन के लिए उन्होंने कितने पुस्तकालयों और पुस्तक की दुकानों की खाक छानी रही होगी, इसका अनुमान उनके पत्रों से लगाया जा सकता है। बाबू हरिश्चंद्र ने हंटर एजुकेशन कमीशन को जो स्मारक पत्र दिया था, उसकी ज़रूरत थी। मैंने साहा जी को लिखा। उन्होंने 16.7.87 के अपने पत्र में लिखा :

प्रियवर,

ने. ला. [नेशनल लाइब्रेरी] के एनेक्सी बिल्डिंग के दोतल्ले पर सुभाष मजूमदार से मिलना। वे Education Commission की रिपोर्ट ढूंढ़ने में सहायता करेंगे, ... लिखित जीवन चरित्र (W.W. Hunter का) मेन बिल्डिंग में मिलेगा।

रीडिंग रूम में दक्षिण की ओर Dictionary of National Biography में भी Hunter देख लेना। Report के Evidence वाले खंडों में हरिश्चंद्र बनारसी के अलावा औरों ने भी हिंदी का समर्थन किया था, देख लेना।

1917-18 की *सरस्वती* में महावीर द्विवेदी ने युद्ध के बारे में क्या लिखा था, यह लिखना।

बाल मुकुंद गुप्त ग्रंथावली अपने मित्र लाइब्रेरियन से प्राप्त करना कुछ दिनों के लिए।

स्नेह लेना-

तुम्हारा, महादेव साहा

हमने साहा जी के बताये अनुसार हरिश्चंद्र द्वारा प्रेषित रिपोर्ट नेशनल लाइब्रेरी से प्राप्त की जो हमारी पुस्तक *भारतेंदु हरिश्चंद्र: नये संदर्भ की तलाश* में शामिल है।

हरिश्चंद्र और महावीर प्रसाद द्विवेदी की ही तरह पत्रों में आचार्य शुक्ल जी का भी उल्लेख है।15.7.85 को दिल्ली से लिखे गये एक पत्र का अंश उद्धृत कर रहा हूं,जिससे पता लगेगा कि हिंदी लेखकों में उनकी कैसी रुचि थी :

12, Windser Place
New Delhi-110001

प्रियवर श्रीनारायण,

18.4 की चिट्ठी यहां पर समय से पहुंच गयी थी। जहां मैं रहता हूं, वहीं हमारा संसदीय कार्यालय है, रोज़ दर्जनों

चिट्ठियां आती हैं ... तुम्हारी चिट्ठी भी ग़लती से संसदीय चिट्ठियों में चली गयी, और अब तक वहीं पड़ी रही। अब मुझे मिली है और उत्तर लिख रहा हूं।

अवधेश नारायण सिंह का 'राहुल का अपराध' निबंध है। 1938 में किसान आंदोलन के सिलसिले में राहुल की गिरफ़्तारी, ज़मींदारों द्वारा मारपीट, जेल में अनशन आदि का ब्यौरा इसमें है। पुस्तक नेशनल लाइब्रेरी में है। पढ़ते जा रहे हो, यह प्रसन्नता की बात है। काम की चीज़ों को नोट करते जाओ, पुस्तकादि के नाम, संस्करण, प्रकाशन तिथि, इत्यादि के साथ।

शुक्ल जी की रचनाएं पढ़ डालो। किस भाषा से क्या लिया है, उसे भी देखो। राखालदास बनर्जी ने क्या लिखा था (उपन्यास) और उसकी जगह पर शुक्ल जी ने क्या बनाया, यह ध्यान से नोट करना, एक लेख लिखो।

अर्नस्ट हेकल (1834-1919) ने 1899 में *डाइवेल्ट ट्राइट सेल* (*The Riddle of the Universe*) लिखी। शुक्ल ने अनुवाद में डट कर जोड़ा घटाया है। मूल से अनुवाद को अच्छी तरह मिलाना चाहिए। जो जोड़ा है, उस पर लिखना चाहिए। पुस्तक का दुनिया की कई भाषाओं में तर्जुमा हुआ था। प्रतिगामियों ने हेकल का विरोध किया था। प्रगतिगामियों के लिए पुस्तक 'वर्ग संघर्ष' का हथियार बन गयी थी। लेनिन ने हेकल का पक्ष लिया था। बाद में हेकल कुछ बदल गया था।

शुक्लाइन के अनुवादों और शुक्ल की भूमिका पर भी लिखना। मूल को भी मिलाना, अनुवाद से। बांग्ला साहित्य में उन उपन्यासों के विषयों में क्या लिखा गया है जिसका अनुवाद शुक्लाइन ने किया है, यह भी देखना। (आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने इस पर एक लेख लिखा है।)

हेकल की जिस जर्मन पुस्तक *डाइबेल्ट ट्राइट सेल* के अंग्रेज़ी अनुवाद *The Riddle of the Universe* का अनुवाद शुक्ल जी ने *विश्व प्रपंच* नाम से किया था, और जो नागरी प्रचारिणी सभा से छपी थी, उस पर साहा जी अधिक गंभीर थे। हमें लग रहा है कि जिस पुस्तक की प्रशंसा लेनिन ने की थी, और जिसे उस समय के प्रगतिगामियों ने वर्गसंघर्ष का हथियार बनाया था, उसकी धार को शुक्ल जी ने गोठिल कर दिया है। इसलिए उन्होंने साल भर बाद, 29.7.86 के पत्र में फिर याद दिलाया कि 'भौतिकवादी पुस्तक को शुक्ल ने चौपट करके रख दिया था। दोनों को मिला कर पढ़ना होगा। इसके बाद लिखने की बारी आयेगी।'

हमने प्रयत्न किया था, तब भी और आज भी, कि मार्क्सवादी या ग़ैरमार्क्सवादी किसी आलोचक ने इस पर कुछ लिखा है या नहीं। यों रामविलास जी ने शुक्ल जी पर पूरी किताब ही लिखी है और नामवर सिंह ने शुक्ल जी की रचनाओं का संकलन कर *चिन्तामणि* भाग 3 निकाली है। *विश्व प्रपंच* की भूमिका तो उसमें है, मगर अनुवाद प्रसंग पर ख़ामोश हैं।

जिस तरह हिंदी साहित्य का उनका ज्ञान था, उसी तरह अन्य विषयों का भी था। जिस हंटर की चर्चा हमने ऊपर की है, उसके बारे में उन्होंने दिल्ली से 16.7.87 के एक पत्र में लिखा कि 'William Wilson Hunter (1840-1900) अपने दृष्टिकोण से बहुत बड़े-बड़े काम कर गये हैं। 1882-83 के Education Commission के चेयरमैन थे। कठुमुल्ला सिविलियन नहीं थे। उनकी *Brief History of the Indian Peoples* (1883) पढ़ लेना।'

अंतिम दिनों तक स्वयं ज्ञान अर्जित करना और दूसरों को ज्ञानार्जन करने के लिए प्रेरित करते रहना उनका सहज धर्म था। पत्रों में ऐसे बहुतेरे प्रमाण हैं। 10.1.97 का एक पत्र है। मैं उन दिनों वर्धमान विश्वविद्यालय में था। उन्हें जिन पुस्तकों की ज़रूरत थी, उनके बारे में लिखा था: 'William Bolts - *Considerations on Indian Affairs* (3 Vol-1772-75) और *Report of Indigo Commission* वि०वि० की लाइब्रेरी में है क्या?'

हरीनाथ दे नेशनल लाइब्रेरी के ख्यातनाम पुस्तकालयाध्यक्ष थे। कई भाषाओं के ज्ञाता थे। नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता में उनका चित्र लगा है। उनके बारे में 29.12. 94 की एक चिट्ठी में लिखा था : 'बर्दवान के महाराज इस शताब्दी के पहले दशक में पोप से मिले थे। हरिनाथ दे को संग ले गये थे। दे ने लैटिन में ही पोप से बात की थी। पोप प्रसन्न हुए और कहा कि दे को इटालियन भी पढ़ लेनी चाहिए। दे ने उन्हें इटालियन में भी एक भाषण

सुना दिया था। विवरण मिले तो भेजना।'

अपनी बैठकी में भी इस तरह की बहुत सी बातें बताया करते थे। उन्होंने बांग्ला, हिंदी, तथा अंग्रेज़ी के कुछ ग्रंथों का अनुवाद और संपादन भी किया था। प्रेमचंद उनके प्रिय लेखक थे। प्रेमचंद के परिवार में पत्नी शिवरानी देवी और पुत्र अमृत राय से उनका घनिष्ठ संबंध था। उन्होंने राय मेंसन्स, बेहला, कलकत्ता-700034 से 19.8.89 को लिखे एक पत्र में बताया है कि 'मैंने प्रेमचंद के कुछ निबंधों और टिप्पणियों आदि का बांग्ला में तर्जुमा किया है। नेशनल बुक एजेंसी ने इसे प्रेस में दे दिया है। दो फ़र्मे छप भी गये हैं, किताब 6-7 फ़र्मे की होगी। एक भूमिका भी लिख देना होगा। किताब अक्टूबर तक निकल जायगी।'

अमृत राय ने प्रेमचंद के अप्राप्य साहित्य का जो संकलन *विविध प्रसंग* नाम से निकाला है, उसमें साहा जी ने स्वयं भी सहयोग किया था और हमारे द्वारा संकलित सामग्री भी उन्हें दिलवा दी थी।

बात बात में साहा जी इतनी बातें बताते थे कि हम जैसों को आश्चर्य होता था, इतना कुछ उन्होंने कैसे अर्जित किया। एक बार की बात है, हमने डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय द्वारा अनूदित गार्सा द तासी के *हिंदी साहित्य के इतिहास* चर्चा की। उसमें वार्ष्णेय जी ने लिखा था कि यह भारतीय भाषा में पहली बार अनूदित इतिहास है। साहा जी ने कहा कि यह ठीक नहीं है, फ़ैलन और करीमुद्दीन ने इसका अनुवाद बहुत पहले उर्दू में कर दिया था। साहा जी ने बताया कि किताब नेशनल लाइब्रेरी में है। हमने नेशनल लाइब्रेरी में किताब पढ़ कर एक लेख तैयार किया, जो संभवत: 1956 में *कल्पना* के किसी अंक में दोनों जनों के नाम से छपा। विद्वानों द्वारा तथ्य स्वीकृत भी हुआ। कई अप्राप्य पुस्तकें उन्होंने ब्रिटिश इंडियन लाइब्रेरी से मंगवायी थीं। मेधा और स्मृति दोनों के धनी थे। बिना पढ़े कुछ लिखने में विश्वास नहीं था। कहते थे, जर्मन विद्वान 10 पुस्तक पढ़ कर एक पुस्तक लिखते हैं और हमारे यहां एक पढ़कर 10 लिखते हैं, कुछ विद्वान तो बिना पढ़े ही लिखते हैं। पढ़ाई एक नशा है, आज के लोगों का नशा कुछ और है। साहा जी को एक ही नशा था, पढ़ने लिखने का।

एक बार द्वितीय महायुद्ध में चर्चिल की भूमिका पर बात हो रही थी। उन्होंने चर्चिल के *मेम्वायर्स* की बात करते हुए बताया कि चर्चिल ने युद्ध के समय एक समिति बनायी थी, उसमें जे.डी. बर्नल को भी रखा था। बर्नल जाने -माने मार्क्सवादी वैज्ञानिक थे। लोगों ने इसका विरोध किया कि वे कम्युनिस्ट (रेड) हैं। चर्चिल ने कहा बर्नल फ़्लेम (लौ) से भी ज़्यादा लाल क्यों न हों, हमें उनकी आवश्यकता है।

डॉ. साहा अपनी उपलब्धियों के प्रति उदासीन थे। उन्होंने क्या लिखा, कहां लिखा, कितनी पुस्तकों का संपादन किया, अनुवाद किया, इसका कहीं ज़िक्र नहीं किया। यह उनके पत्रों में थोड़ा बहुत मिलता है। उन्होंने 7.9.91 के एक पत्र में लिखा कि 'तुम तो पांच छ महीने में पोस्ट कार्ड लिखते हो। छह सौ लेता हूं, 50-60 रुपये मासिक पत्राचार में ख़र्च करता हूं।' किंतु उन्होंने किस-किसको पत्र लिखे, इसका भी अता-पता नहीं। इतना जानता हूं कि प्रसिद्ध रूसी अकादमीशियन याकोब से लेकर बांग्लादेशी विद्वान डॉ. शहीदुल्ला तक से उनके पत्राचार हुए हैं। उन्हें जो पत्र मिले, उनका भी पता नहीं। मालूम नहीं, उनकी किताबों का अमूल्य संग्रह किसके पास है। अभी भी उनके संपर्क में आने वाले लोग हैं। मगर कौन किसकी ख़बर रखता है।

कौन याद रखता है, बुरे दिन के दोस्तों को।
सुबह होते ही चिराग़ बुझा बुझा देते हैं।

मो. 8004040576

चार कविताएं

प्रेमरंजन अनिमेष

1. नक़ाब

कई लोग चले
जब मास्क लगाने
तो पता चला उन्हें
कि लगा नहीं सकते
क्योंकि चेहरे पर उनके
पहले से
मास्क लगे हुए

कुछ तो बचपन से
बड़े किये गये थे
साथ नक़ाब के
और बहुतेरे
जन्म से
पैदा ही हुए
चेहरे पर ओढ़े चेहरे

और स्थितियां जो बनी थीं उस समय
आपदा जो आयी थी असल में
नक़ाब उनके
उठाने के लिए

2. जीवन घुट्टी

आ चुकी घुटनों पर
घुट घुट कर
जीने पर

मजबूर आदमीयत

घूंट प्रेम का
ग्लानि का
अपमान उपेक्षा
तिरस्कार का

घोंट ले
गले में
ले उतार
जीवन घुट्टी सा

बाहर उसे निकालना
अब अपने अपनों
और औरों को
ख़तरे में डालना

आज जिस घाट दुनिया
घट घट में
कुछ और है
जीवन था जहां पहले

अंकुरित बीज सा अभी
उसे ही संभालना
गर्भ के सुघट में
आकार लेते अजन्मे सा
पोसना पालना

औरत को देख
औरत से सीख

वह जैसे सहती है
फिर भी धड़कन जीवन की
संजोये रहती है

इस समय
किसी ईश्वर से नहीं
उससे ही
और अंतरात्मा से अपनी
जहां भी वह दबी ढंकी छुपी
नत विनत
मांग यह घुट्टी
जीवन पहली किलक
और पहले क्रंदन की

3. **नयी नीति**

क्यों ऐसा लग रहा
युद्ध का
रचा जा रहा
नया व्याकरण

आक्रमण नहीं
संक्रमण

क्या इतिहास कभी
लख और लिख पायेगा
कर दर्ज सकेगा
किसने किया
हुआ किससे

सबसे पहले
सबसे ज्यादा
उल्लंघन अतिक्रमण ...?

4. एक और अवसर

एक और अवसर
देगा जीवन

पहाड़ों के आगे सिर झुका कर

अपना अहंकार समेटने के लिए

एक और अवसर देगी नदी
पानी अपना छूकर
मन का मैल धोने के लिए

देंगी हवाएं अवसर एक और
कि उनसे जी भर अपनी सांसें भर
ज़हर और धुआं मत छोड़ें

एक और अवसर देगा आसमान
कि अपने सपनों अपनी कल्पनाओं उच्चाकांक्षाओं की पतंगें
उड़ायें, पर इस तरह नहीं मांझेदार डोरियों में
कि पर फैलाये पंछियों के आड़े आयें

एक और अवसर मिलेगा
कि आंच पर रख हाथ क़सम खायें
कि उसे औरों पर बरसाने के बजाय
चूल्हों में लौ में दिलों में
रखेंगे जुगाये

एक और अवसर देगी ज़रूर पृथ्वी
कि मिट्टी उसकी माथे से लगा
संकल्प ले मानवता
कि उसे गढ़े भले चाक पर
या खेतों में जोते बोये
पर किसी की हवस के लिए
अब और रौंदा कुचला बांटा काटा नहीं जायेगा उसे

है कहीं न कहीं अब भी
विश्वास
एक और मौक़ा देगी प्रकृति
बाहर के शोर और हाहाकार को कम कर
सुनने की उसकी अब तक अनसुनी पुकार

जीवनदान एक अगर मिलता

तो खिलाड़ी अच्छा
दोनों हाथों से कर स्वीकार

रच देता इतिहास नया
बना देता कीर्तिमान
करता खड़ा प्रतिमान
लहराता कीर्तिपताका

एक और अवसर देगा जीवन
बदल कर यह वर्तमान
बना लेने के लिए भविष्य

कहते हैं हर डूबने वाले को लहरें
उछालती हैं ऊपर डूबने से पहले
कि करो एक और कोशिश
बच जाओ अगर बच सकते
डूबने से

एक और अवसर देगी
उदारहृदय यह सृष्टि

अब हम पर है
मिल कर उसका
क्या करते हैं...

मो. 9930453711, 9967285190

तीन कविताएं

मनजीत मानवी

1. स्त्री द्वारा लिखी कविता

एक स्त्री अपनी कविता के उभरते आखर
कुर्सी मेज़ या बिस्तर की सुगमता लिए
केवल कलम से नहीं लिखती,
अनेक बार शब्दों का शोरबा
पकता रहता है उफन उफन कर
गैस की पीली आंच पर
दाल के पतीले में या फिर
सब्ज़ी काटते चाकू की धार पर

उठती गिरती रहती हैं ध्वनि की तरंगें
बच्चों को दूध पिलाते गिलास की तलछट में
ठहरी हुई रात की अनमनी करवट में
बिस्तर पे चादर की अवसाद में डूबी सिलवट में

घुमड़ते रहते हैं भावनाओं के भंवर
मर्यादा की उमसदार गर्दन से बंधी पोटली में
कमाऊ पति परमेश्वर की दंभ भरी गाली में
नमक फालतू मिलने पर फेंकी हुई थाली में

बनते बिगड़ते रहते हैं छंदों के झुरमुट
नन्हें से बच्चे की किलकारियों की गूंज में
बारिश की पत्ते पर गिरती थरथराती बूंद में
दूर कहीं शाख़ पर अटकी कोयल की कूक में

संशय और ख़लल के न जाने कितने
महीन सुराख़ों से हो कर गुज़रता है
एक स्त्री द्वारा बुने लफ़्ज़ों का टेढ़ा मेढ़ा
थका हारा इधर उधर भागता फंदा
थका हारा इधर उधर भागता फंदा

तब कहीं जोड़ से जोड़ मिल कर
उद्विग्न मनोभावों से सिल कर
रात की स्याही में घुल कर
लिखी जाती है एक स्त्री की कविता

जिसे वो अक्सर कविता नहीं मानती
स्वयं के साथ हुआ एक धोखा मानती है
एक ऐसा धोखा जिसकी शिराओं में
मरहम भी है, और ज़लज़ला भी !!!

2. आंकड़ों के लिहाफ़ में

ये कुछ आंकड़े ही थे जो देर सवेर
हमारे भी होने की ख़बर दे देते थे
देस दुनिया के अख़बारों और पहरेदारों को

हम बिना किसी उत्पात के
रुई की तरह घुस जाते थे
हर दशक के आकड़ों के लिहाफ़ में

अपने अपने दुखों की गठरी लिये
कभी जनसंख्या की भीड़ बन कर
कभी नागरिकता का चोंगा पहन कर

सोचते थे जन गण मन के फलक पे
हम भले ही न हों अधिनायक
लेकिन जनगणना में हमारी गणना तो है

अब सियासत की आंधी छीन रही है
नागरिकता के भटकते आंकड़ों का
वो धूसर जर्जर लिहाफ़ भी

हमें राष्ट्र का नागरिक मान कर
रोज़ी रोटी दे पाना तो ख़ैर
अभी बहुत दूर की बात थी !

3. शब्दजाल

आश्चर्य की बात है कि अनेक समान शब्द
एकसमान अर्थ के बावजूद भी
कितने अलग दिखायी देते हैं
लैंगिक संबंधों की रणभूमि में

मसलन एक शब्द है 'चरित्र'
कैसे चमक उठता है
इस शब्द का मुकुट
एक पुरुष के ललाट पर

रोशन हो जाती है जैसे कायनात सारी
बजने लगते हैं कानों में ढोल नगाड़े
रचा जाने लगता है एक पूरा इतिहास
कुलीन चरित्रवान की अद्भुत ताजपोशी का

मगर ठीक यही शब्द 'चरित्र'
कितना अजनबी कितना विचित्र
कितना अनमना अस्तव्यस्त सा लगता है
जब किसी स्त्रीदेह की खूंटी पे जा अटकता है

लगता है जैसे अपना नियत स्थान छोड़ कर
किसी अपरिचित के घर में आ गया है
दमकते ताज से छिटक कर
बंजर भूमि में समा गया है

ठीक इसी तरह अनेक और शब्द हैं पौरुष के तरकश में
मसलन 'शरीर', 'इज़्ज़त', 'पवित्रता', 'यौनिकता'
'लाज शर्म', 'शालीनता', 'सामाजिकता' आदि आदि
बरसों से जिनके मखमली जाल

प्राचीन सभ्यता और आधुनिक संस्कृति के

हर मुहाने पे बिछे नज़र आते हैं
पुरुष की अंतरात्मा को रिझाने के लिए और
एक स्त्री के स्त्रीत्व को आज़माने के लिए

यहां तक कि प्रेम और निष्ठा जैसे
निर्दोष और निष्पक्ष शब्द के अर्थ भी
स्त्री पुरुष के प्रवृत संदर्भ में
स्वतः अलग अलग हो जाते हैं

पुरुष के लिए प्रेम स्वयं का विस्तार है
जबकि स्त्री प्रेम के भंवर में
और भीतर सिमट जाती है
ठौर ठिकाने से कट कर बावली सी हो जाती है

दिल की बात तो इंसान
इशारों से भी कर लेता है
बरसों बरस संप्रेषण का कौशल
बिन भाषा के ही पनपा है

फिर भी शब्दों की कोई तो महत्ता है
एक स्त्री के लिए यह महत्ता
तमाम अन्य वजहों की अपेक्षा
कहीं ज़्यादा मौलिक और केंद्रीय है

क्योंकि उसे ताक़त के मोहपाश में उलझे
एकांगी अधिकार के करघे पर बुने
नाहक फैले इस सुनहरे शब्दजाल के
हर फंदे को सुलझाना है !

मो. 9896850047

नायक

शैलेंद्र अस्थाना

मैं प्रबुद्ध
रक्त शुद्ध
इतिहास विरुद्ध
भूगोल अवरुद्ध

शब्द नहीं चिंघाड़
ओठ पर लताड़
सत्य का सन्नाटा
झूठ का पहाड़

भीष्म का वंश
ग्रंथ विवेक ध्वंस
वंदना में कृष्ण
चेतना में कंस

बात में दिलेर
काग़ज़ के शेर
कुर्सी के राजा
लक्ष्मी के चेर

छद्म राष्ट्रभक्त
ज्ञान से विरक्त
जन से कटा-कटा
धन से अनुरक्त

न्याय के रक़ीब
ज़ुल्म के क़रीब
स्वर्ग के अभिशाप
नरक के नसीब

मो. 9470505915

चार कविताएं

अशोक सिंह

1. छोटे लोग

छोटे लोग हमेशा तादाद में अधिक होते हैं
अक्सर लंबी होती है उनकी सूची
लंबे नहीं होते उनके हाथ
नाक ऊंची नहीं होती उनकी
छोटा होता है उनका क़द
छोटी होती है उनकी दुनिया
होती हैं मुट्ठी भर छोटी-छोटी चाहतें

छोटे लोग अक्सर गली-कूचे में रहते हैं
पहनते हैं फुटपाथी कपड़े
चलते हैं फुटपाथ पर पैदल

छोटे लोग अक्सर
लदे-फदे करते हैं गाड़ियों में यात्राएं
लाइन में खड़े होकर लेते हैं टिकट
मोल-भाव कर ख़रीदते हैं चीज़ें
और जैसे-तैसे खींच-तानकर
बिताते हैं जीवन

छोटे लोग अक्सर घेरते हैं बड़ी जगह
पर अफ़सोस
मुट्ठी भर से ज़्यादा जगह नहीं होती उनके पास

छोटे लोगों से ही बनती है बड़े लोगों की दुनिया
उनके होने से ही अक्सर पहचाने जाते हैं बड़े लोग

छोटे लोग भीड़ में तख्तियां उठाये
लगाते हैं नारे
और अपनी छोटी-छोटी मांगों के लिए

अक्सर मारे जाते हैं जुलूस में
बड़े लोगों की गोली से

छोटे लोग अक्सर सुनते हैं नीचे बैठकर
बड़े लोगों का भाषण
बड़े लोग मंच पर बैठ
करते हैं बड़ी-बड़ी बातें

वैसे चलने को तो बहुत दूर तक चलते हैं
पर कहीं पहुंच नहीं पाते छोटे लोग

छोटे लोग बसाते हैं बड़े-बड़े शहर
और ख़ुद होते जाते हैं
दिन-व-दिन शहर से दूर ...
छोटे लोगों पर

और तो और
छोटे लोग अक्सर डरते हैं बड़े लोगों से
लेकिन जब वे डरना छोड़ देते हैं
तो डरने लगते हैं उनसे बड़े-बड़े लोग

2. बोलो

यह चुप रहने का वक़्त नहीं है
बोलो ! और दहाड़ते आतंक के बीच फटकारकर बोलो !

संभव है एक दिन भोगनी पड़े तुम्हें
बहुत कुछ बोलने की हिम्मत बटोरते
कुछ न बोल पाने की पीड़ा

उस जगह पहुंच कर
कुछ कर सकने के बारे में मत सोचो
जहां पहुंचकर सरसों के दाने-भर रह जाता है आदमी

जो चुप हैं उन्हें चुप रहने दो

उनकी गहराती चुप्पी ही तुम्हारे बोलने की ताक़त है

उसका इंतजार मत करो जिससे मिलकर
तुम्हारी मुट्ठियों में कसमसाता गुस्सा पिघल जाता है

बोलो ! और कुछ इस क़दर बोलो
जिस क़दर आज तक
किसी ने बोलने का साहस नहीं किया

अपने समय की गहराती चुप्पी के ख़िलाफ़ बोलो
और वह सब कुछ बोलो जो
आज तक कभी बोला नहीं गया

बोलो ! चाहे बोलने में जितना भी विरोध सहना पड़े
मगर बोलो और बार-बार बोलो !
बोलो कि अच्छे दिन आने में
अब कितने वर्ष और लगेंगे?

इतना बोलो ! इतना बोलो !
कि सामने वाला चुप्पी तोड़कर बोले
कि बहुत बोलते हो तुम !

3. यह जो गहराता हुआ अवसाद

यह जो गहराता हुआ अवसाद आज मेरे हिस्से में है
कल तुम्हारे हिस्से में भी हो सकता है
परसों किसी और के भी

छूत की बीमारी की तरह फैल रहा है यह
और हमारी यह पीढ़ी
अपनी-अपनी दुनिया में मस्त
स्मार्टफ़ोन की स्क्रीन पर उंगलियां नचाते
रात-रात भर जाग रही है

यह एक कड़वा सच है

कि हम बौने दिमाग़ वाले लोग
अक्सर अपनी चुनौतियों को
कम करके चिह्नित करते हैं
और विफल हो जाते है हर मोर्चे पर

फिर सच चाहे अपना हो या पराया
उससे सामना करना मौत से कम नहीं होता
और मौत कितनी भयानक होती है
ज़िंदगी की दरिया की सतह पर
तैरने वाला व्यक्ति नहीं जानता

कैसी बिडंबना है कि
हम विरोध जताने की पूरी हिम्मत बटोरते
निरंतर चुप रहते और झेलते हैं अंदर का धिक्कार

एक ऐसे समय में
जब बाढ़ के पानी की तरह
पसर रहा है अवसाद हमारे चारों ओर
और लोग बचा रहे हैं
अपनी-अपनी दुनिया, अपना-अपना घर

बोलो ! बोलो अशोक सिंह !
बोलो कि व्यवस्था के विरुद्ध हमारी यह चीख
कविताओं के बाद कहां जा रही है...?

4. कितना मुश्किल है
कितना मुश्किल है
इस दौर में झूठ के ख़िलाफ़
दहाड़ते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोलना

उठाना असहमति में अपने हाथ
किसी गंभीर दिखती बहस में
लगभग पूरी सहमति के बीच

रात को रात

ख़ून को ख़ून
और दुश्मन को सीधे दुश्मन कहना

मुश्किल है कितना
याद रखना सफ़र की पिछली सारी बातें
और वे तमाम चेहरे भी
जिन्हें याद रखना
बहुत ज़रूरी होता है हमारे लिए !

भूल पाना अपनी इच्छाओं को
उनकी पूर्ति के बजाय
और उसमें भी
रसोई से बिस्तर तक के बीच हो रहे निरंतर
बाज़ारू हमले के बीच रहते हुए

कितना मुश्किल है
दुनिया के टंटों से ख़ुद को दूर रखते
एक छोटी सी साफ़-सुथरी सौम्य ज़िंदगी जीना

यह सच है कि
तुम्हारे बारे में सोचते हुए
एक अजीब सी ख़ुशबू से
भर जाती है दुनिया

पर कैसे बताऊं कितना मुश्किल है
एक व्यस्त शहर में रहते
दाल-रोटी की जुगाड़ में लगे रहने के बीच
अपनी जेब में रखी पर्स में लगी तुम्हारी तस्वीर को
बार-बार निकाल कर देखना।

मो. 9431339804/9955990374

तीन कविताएं

नरेश अग्रवाल

1. फ़र्क़ नहीं मिटा

सभी सोचते थे
वोट के अधिकार से
जूते पहनने वाले
और नंगे पांवों का फ़र्क़ मिट जायेगा
या सिर पर टोपी
या सिर पर धूप सहने वालों के बीच का
फ़र्क़ मिट जायेगा

वर्ष-पर-वर्ष बीत गये
लाइन में लगकर लोग वोट डालते रहे
फिर भी फ़र्क़ नहीं मिटा

थोड़ा-थोड़ा करके यह बहुत बड़ा हुआ
मुस्कुराहटें और बड़ी हो गयीं
दुख और बड़ा हो गया

अभाव चंद किलो अनाज में सिमट गया
साथ ही बड़ों के द्वारा
छोटों की खुशियां छीनना भी आसान हो गया

अब इनके पास नये तरीक़े हैं
नये साधन मौजूद
नंगे पांव से चमड़ी भी उतार लेने के!

2. ग्रीटिंग कार्ड

ग्रीटिंग कार्ड में एक किसान होगा
खेत होंगे, लहलहाती फ़सलें होंगी
काम करते लोग होंगे
कुएं और छोटे-से पोखर
कुछ बैल और आकाश में उड़ते पक्षी भी

इन सबके चित्रण से बन जायेगा
एक शानदार उपहार
चाहे वह नहीं दे सकेगा इन्हें किसी को
लोग ज़रूर देते रहेंगे इसे एक-दूसरे को

सभी कहेंगे यह धरती कितनी ख़ुशहाल है
प्रकृति के सौंदर्य से आपूर
सभी इस कार्ड पर अपना नाम लिखेंगे
प्यार से बांटेंगे लोगों को

किसान कितना अनभिज्ञ रहेगा इनसे
नहीं होंगे कहीं उसकी जुताई के हस्ताक्षर
न ही बीजों को छिड़कने की प्रक्रिया
न ही धूप में रिसता उसका श्रम

हर चीज़ तो उसकी चुरा ली जाती है
दृश्य भी चुरा लिये गये तो क्या हुआ
पास रहेंगी उसकी बलिष्ठ भुजाएं
पास रहेगा उसका सर्जक श्रम!

3. दोस्ती

मित्र तुम पीले होकर झड़ने वाले हो
मैं तो अभी-अभी जन्मा हूं
अभी-अभी तुमसे दोस्ती हुई है

कुछ दिनों का ही साथ रहा
अब क्या करूं?

बस देखता रहूंगा तुम्हारा झड़ना
ज़मीन पर गिरना
और सूखकर उड़ना

मेरी दोस्ती इतनी प्रगाढ़
मन करता है
छोड़कर डालियों का साथ
निकल पड़ूं तुम्हारी ही यात्रा पर
लेकिन मैं मजबूर
पर चाहे अभी संभव न हो
कुछ दिनों बाद ज़रूर!

मो. 9334825981, 7979843694

दो कविताएं

महेश केशरी

1. माफ़िया

उनकी नज़रें हमेशा
तलाशतीं रहतीं हैं ।
ख़ाली - खुली जगहें।

वे, खुले चारागाहों पे,
नज़रें गड़ाये हुए होते हैं ।

और उनकी नज़रें, ख़ाली पड़े
बाग़-बगीचों पर भी गड़ी होती है ...।

जो गाय-बैल, भेड़-बकरियों
के चरने के लिए
होती हैं ।

उस पर वे कंक्रीट के जंगल
उगाना चाहते हैं ।

वे नहीं चाहते हैं कि
छोटे-छोटे बच्चे जो खेलते
हैं, ख़ाली- खुली जगहों पर
वे वहां खेलें।

उन पर वे कब्ज़ा
करना चाहते हैं ।

उनके कब्जा करने की
चाह ख़त्म ही नहीं होती है।

अलबत्ता वे कब्ज़ा करते जा
रहे है, शहर के पुराने
टूटे क़िले-खंडहरों के अवशेषों पर ।

जो, कभी प्रेमी जोड़ों के
मिलने की सबसे सुरक्षित
जगहों में से एक
मानी जाती थी।

वे सांठगांठ से सबकुछ
कर सकते हैं ।

वे लगातार खोद कर
बेचते जा रहे हैं
नदियों का रेत।
नदियां होती जा रहीं हैं
ख़ाली।

वे लगातार काटते जा रहे
हमारे, पहाड़ का सीना।
और,
पहाड़ को फाड़कर
निकाल लेना चाहते हैं
सारा का सारा पत्थर।

वे छीन लेना चाहते हैं
धरती की हरियाली
और झोंक देना चाहते हैं
हमारे भविष्य को अंधकार में ।

और, तो और, एक अख़बारी
कतरन, के अनुसार,
उन्होंने
कब्ज़ा कर लिया है
शहर के सबसे आख़िर में
बने क़ब्रिस्तान पर
जहां मुर्दे दफ़नाये जाते हैं ।

2. घोषणाएं

राजनीति और भूख में
बड़ा गहरा संबंध होता है।

भूख केंद्र में होती है
और उसके इर्दगिर्द
घूमती रहती है
राजनीति।

कभी-कभी लगता है.
राजनीति नदी के दो
किनारों की तरह होती है।
जिसके एक सिरे पर
होता है आदमी
और दूसरे सिरे पर होती हैं
राजनीतिक
घोषणाएं
जैसे - सबको रोटी, सबको शिक्षा
सबको स्वास्थ्य, सबको आवास
और सबको
रोज़गार।

या फिर
राजनीतिक घोषणाएं ,
और लोगों की ज़रूरतें
रेल की दो समानांतर पटरियों की तरह
होतीं हैं
जो चलती तो
साथ-साथ हैं
लेकिन, आपस में
मिलती कभी नहीं।

मो.9031991875

उर्दू कहानी

जन्नत नसीबी

नूर ज़हीर

रकीबन बी का दिल बल्लियों उछल रहा था। उनकी ख़ुशी का ठिकाना न था; बस 'आजकल पांव ज़मी पर नहीं पड़ते मेरे' वाली हालत थी। वैसे रकीबन बी की उम्र, दिल के बल्लियों उछलने की न थी। भला बहत्तर की उम्र में किसी का दिल ख़ुशी से उछलता है? उछलता भी है तो बस एक बार, 'टैं' हो जाने के लिए। लेकिन वही मसल है न कि उम्र ढल जाती है दिल कहां बुढ़ाता है? सो इनके बूढ़े वजूद में जवान दिल, कुलाटियां भर रहा था; और भई बात भी तो ख़ुशी की थी; ज़िंदगी भर दूसरों के घर में चाकरी करके, जूठन, उतरन पर गुज़र करके, पहाड़ जैसी ज़िंदगी परायों की गालियों, कोसनों के सहारे काट देने वालों को भी कहीं हज नसीब होता है? वह तो अल्लाह भला करे अक्कन मियां का, जो विलायत में रह कर ग्यारह सालों में तो अपनी मां को झांकने भी न आये, लेकिन उनके लिए हज करने के पैसे भेज कर अपने लिए जन्नत की बुकिंग पक्की कर रहे थे। इतना ही नहीं, अक़ील अहमद, उर्फ़ अक्कन मियां ने विलायत से यह हुकुम भी जारी किया था कि उनके साथ कंचे और गुल्ली डंडा खेले हुए, उनके लंगोटिया यार, जो अब इस क़स्बे की शिया मस्जिद के छोटे इमाम थे, अम्मी के साथ मक्का जायेंगे, वरना भला अरबी में होने वाले उमरा को सीधी साधी हिंदुस्तानी ज़बान में अम्मी को कौन समझायेगा? और पैंसठ साल की अम्मी की हज़ारों ख़्वाहिशों, ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी तो कोई चाहिए? लिहाज़ा उनके साथ रकीबन बी का जाना भी उन्होंने ही तय कर दिया था।

वैसे रक़ीबन बी का जवानी के दिनों से यही रोल रहा है। वो चौबीस साल की जवान जहान बेवा थीं, जिन्हें नयी नवेली दुल्हन के साथ ससुराल भेजा गया था कि वहां परदेस में उनकी ज़रूरतों, ख़्वाहिशों का कौन ख़याल रखेगा? यह भी उन्हीं की, यानी हशमत आरा बेगम की ज़रूरत ही थी कि दुबई तक पानी के जहाज़ से सफ़र करना तय हुआ। अक्कन मियां तो हवाई जहाज़ का किराया देने को तैयार थे। दस दिन का सफ़र घंटों में पूरा हो जाता। लेकिन हशमत आरा बेगम को हवाई जहाज़ में बैठने के ख़याल से ही दिल में हौल उठने लगता था। सो सफ़र लंबा तो खिंचा ही, साथ ही पुरानी बाबा आदम के ज़माने की खड़बड़िया एम्बेसडर में लखनऊ जाने और फिर हवाई अड्डे पर हवाई जहाज़ में फुदकने के बजाय, रेल से मुंबई और वहां से जहाज़ में दुबई और दुबई से बस से मक्का जाना तय किया गया। तीनों तरह के सफ़र एक साथ करने को मिलेंगे यह तो रकीबन बी ने ख़्वाबो-ख़याल में भी न सोचा था।

बिटिया के, यानी 65 साला हशमत आरा बेगम के सारे गरारे कुर्ते रकीबन बी ने ख़ुद धोये, सारे दुपट्टे कलफ़ देकर बड़े जतन से चुने; लोबान, धूप से सारे कपड़े बासे, ताकि एक बार पहनने के बाद ही बदलने की ज़रूरत न पड़े। सफ़ेद सरसों दूध में भिगोकर, उबाली, सुखायी और तेरह जड़ी बूटियों के साथ पीस कर कपड़े की थैलियों में बांधी। भला बिटिया हज पर साबुन से नहायेंगी? मौलवी साहब के लिए भी चार नये जोड़े बनवाने दर्ज़ी के पास वही गयीं और अपने लिए भी दो नये सफ़ेद छालटीन के गरारे ख़ुद ही सी डाले। इतनी तैयारी तो उनकी ज़िंदगी में बस एक ही बार हुई थी--बिटिया के ब्याह में! इतना लंबा सफ़र तो दूर वह तो ज़िले के बाहर भी न झांकी थीं और हज से तो उनके ख़्वाबों तक ने किनारा कर लिया था।

वैसे पूरे मोहल्ले पर ही एक ख़ुशी का आलम तारी था। हज की रवानगी की ख़बर मिलने के दिन से ही हर जुमेरात को नज़र देकर हलवा बंटने लगा। रकीबन बी, जो घर की माली हालत से वाक़िफ़ थीं इस ख़र्च के बिलकुल ख़िलाफ़ थी। अक्कन मियां की, जिनको उन्होंने गोद खिलाया था, कमाई की ऐसी बर्बादी उनका दिल कचोट रही थी। मौलवी साहब भी हर वक़्त हाथ में क़ुरआन शरीफ़ और बग़ल में जानमाज़ दबाये नज़र आते। आख़िर उन्हें हर आयत, हर हुक्म के मतलब जो समझाने थे। उन्होंने ख़ुद ही कहा था कि बेगम साहब फ़िक्र न करें, वे चल रहे हैं न साथ, सब समझाते, बताते चलेंगे।

हज के सफ़र से पहले कई अदद छोटे सफ़र करने पड़े। पासपोर्ट फ़ॉर्म भरने, दाख़िल करने, पुलिस जांच और फिर हज कमिटी के दफ़्तर में जमा कराने में तीन चक्कर तो लखनऊ के लगे। एक बार दिल्ली जाना पड़ा, पांच मुल्कों के पांच दूतावास में वीज़ा की मोहर लगवाने। हज के साथ साथ कर्बला की ज़ियारत भी कर लेंगे, ईरान की फ़िरोज़ा मस्जिद और तुर्की में रूमी की क़ब्र पर भी फ़ातिहा पढ़ लेंगे। हर दफ़्तर की हर मेज़ पर जो भी सुनता कि ये लोग हज को जाने वाले हैं तो फ़ौरन अपने लिए दुआ करने की फ़रियाद करता। हिंदू तक अपना दुखड़ा सुनाने लगते और इल्तिजा करते कि उनके दुःख निवारण के लिए हशमत आरा बेगम ज़रूर काबे शरीफ़ में दुआ करें। मौलवी साहब का तो काम ही है सबको संतुष्ट करना, लेकिन बिटिया भी फ़ौरन वादा कर लेतीं। अंतिम दफ़्तर में रकीबन बी से रहा नहीं गया, बिगड़ कर बोलीं, 'लो भला बताओ, हम हर किसी की मुराद पूरी करने की दुआ मांगते रहे तो हमारे अपनों का तो नंबर ही न आने का! न भैये, दुआ तो हम अपने और अपनों के लिए ही मांगेंगे, विसी के लिए तो जा रहे हैंगे, साफ़ बात।'

आख़िर सफ़र शुरू करने का दिन आया, ट्रैन से तीनों मुंबई पहुंचे और वहां से उस जहाज़ पर सवार हुए जो हज पर जाने वाले मुसाफ़िरों से भरा था। जहाज़ क्या था, इस्लाम का एक द्वीप जैसा था; हर तरफ़ से तलावत की गूंजती आवाज़ें आबोहवा को पाक रखतीं, हर वक़्त लोग बदना लिये वज़ू के लिए दौड़ते नज़र आते। अक़ीदत का यह आलम था कि जहाज़ ज़रा डगमगाया कि लोग जहां होते वहीँ सजदे में गिर जाते। मज़हब, दीन और ईमान से लबालब भरे इस तालाब में किसी ने छपाक से एक ढेला मारा। किसी बेचारे का काफ़ी क़ीमती कश्मीरी दोशाला चोरी हो गया! नमाज़ पढ़ने को, वज़ू से पहले दुखिया ने उतारकर तह करके एक तरफ़ रखा था। और फ़ारिग़ होकर जब वहां पहुंचा तो दोशाला नदारद! रकीबन बी पहले तो सकते में आ गयीं। ऐसा कैसे हुआ? यानी हज को जाने वाले सब नेक बंदे नहीं हैं, उनमे से कुछ चोर बेईमान भी हैं जो हज के सफ़र पर भी अपनी आदतों से बाज़ नहीं आते। भला ऐसी हज का क्या फ़ायदा? वैसे उनके दिल को जहाज़ पर चढ़ते ही एक धक्का लग चुका था जिसके बारे में उन्होंने मौलवी साहब से पूछा भी था। 'हज पर जाने वाले तो सब मुसलमान हैंगे, तो भला नमाज़ की इतनी जमातें क्यों लगती हैंगी?' उन्होंने भोलेपन से पूछा।

मौलवी साहब ने डपटते हुए कहा, 'लो भला बताओ, यहां शिया हैं, सुन्नी हैं, वहाबी है, बोहरी हैं, खोजे हैं, मैमन हैं, इस्माइली हैं...सबकी जमात भला एक कैसे हो सकती है।'

'पर हैंगे तो सब मुसलमान और सब हज करने को जा रहे हैं जो एक ही तरह से की जाती है, तो सब उस अल्लाह के हुज़ूर में एक साथ नमाज़ क्यों नहीं पढ़ सकते?' रक़ीबन बी ने तर्क किया।

'बेकार बहस न करो।' मौलवी साहब ने बिगड़ कर कहा I

'जो बात तुम्हारी समझ से बाहर है उसमे क्यों 'दख़ल देती हो?' हशमत आरा बेगम ने समझाया। रकीबन बी चुप हो गयीं। इस चोरी वाले हादसे से दिल में उमड़ते सवालों को भी उन्होंने दबाये रखा, मगर सतर्क हो गयीं। गरारे पहनने छोड़ दिये, बिटिया का बैग ठीक अपने पीछे रखती और सजदे में झुकते हुए, चुस्त चूड़ीदार पजामों में जकड़ी टांगों के बीच में से झांक कर इत्मीनान कर लेतीं कि सामान अपनी जगह सुरक्षित है। भला ऐसा सजदा

कितने दिन छुपता और मौलवी साहब तो आये ही इसीलिए थे कि सब पर नज़र रखें कि वह दीन की पाबंदियां निभा रहे हैं या नहीं। जब सवाल-जवाब हुआ तो रकीबन ने साफ़ कह दिया, 'तो क्या हुआ, अल्लाह मियां को सजदा भी करते हैंगे, अपने माल की हिफाज़त भी करते हैंगे। इसमें ग़लत क्या हैगा ?'

दुबई से बसों, जीपों, मोटर गाड़ियों का लंबा क़ाफ़िला मक्का की तरफ़ रवाना हुआ। हज शुरू होने में अभी तीन दिन बाक़ी थे। तीन दिन उनके ड्राइवर और गाइड ने उन्हें हर वो निशान दिखाया जो अल्लाह ने बतौर अपने होने के सुबूत में इस ज़मीन पर छोड़ा है। कहीं ऐसा पेड़ था जिसकी जड़ें ऊपर आसमान में और तना ज़मीन में घुसा था, कहीं सुलगती रेत के बीचोबीच ऐसा ठंडा पानी का चश्मा फूट रहा था कि क्या कहिए। लोग थे कि सजदा करने में एक दूसरे के ऊपर गिरे पड़ते थे। रकीबन बी हैरान, आंखें फाड़ फाड़ कर सब कुछ देख रही थीं। बात ही कुछ ऐसी थी। हर नया निशान देख कर मौलवी साहब सजदे में लोटपोट हो जाते, बिटिया शुक्राने की दुआयें पढ़ते हुए आंसू बहातीं कि अल्लाह ने उन्हें इस क़ाबिल समझा कि वह हज अदा करें और सब अपनी आंखों से देखें।

रक़ीबन बी को अजीब लग रहा था। उन्होंने तो ज़िंदगी में इतने पेड़ देखे थे जो पत्तियां झड़ जाने पर यूं मालूम होते हैं जैसे जड़ें ऊपर हवा में किये खड़े हों और अगर धूप में रख देने से सुराही का पानी बर्फ़ जैसा ठंडा हो जाता है तो तपती रेत से ठंडे पानी का चश्मा फूट पड़ने पर ख़ुदा का शुक्र मानना तो समझ में आता है लेकिन उसे भला चमत्कार क्यों क़रार दिया जाये?

उमरा शुरू होने से पहले, हज के लिए हुक्म और काबा शरीफ़ का इतिहास मौलवी साहब ने बड़ी तफ़्सील से सुनाया। उनका अंदाज़े बयां इतना अच्छा था और इतनी सीधी साधी भाषा में होता था कि आसपास के लोग भी जमा हो जाते। ये ज़्यादातर ग़रीब हिंदुस्तानी, पाकिस्तानी या बांग्लादेशी थे जो जहाज़ों की सबसे निचली श्रेणी में, ज़मीन पर दरियां, चादरें बिछाये, मामूली बसों में धक्के खाते, कई बार पैदल चलते, दिल में हज की ललक लिये यहां तक पहुंचे थे। मौलवी साहब इन ग़लीज़, गंदे, ख़ब्बीसों की मौजूदगी पर बिगड़ जाते। इनके पास से उन्हें बदबू आती थी। असल में रकीबन बी जो दिन भर बस में बैठे बैठे उकता जाती थीं, अपनी टांगें खोलने, रात को रुके पढ़ाव भर में हर तरफ़ डोलती फिरतीं और अपने मौलवी साहब की तारीफ़ें कर करके मजमा जमा कर लेतीं। इतने बड़े मजमे के आगे धर्म का बखान करना मौलवी साहब को अच्छा लगता मगर यह क्या बात हुई कि रकीबन बी, वहीं सबके सामने अल्लाह और रसूलल्लाह की शान में मौलवी साहब की हर दलील पर सवाल उठायें, ऐतराज़ जतायें? और उस दिन तो उन्होंने हद ही कर दी। मौलवी साहब काबे के पत्थर का ज़िक्र कर रहे थे। कैसे यह पत्थर हज़रत इब्राहिम के वक़्त से भी पहले, एक दिन अचानक आसमान से आकर ज़मीन पर गिरा; कैसे सब क़बीलों के लोग इस आसमानी नेमत को देखने जमा हो गये और इसकी रंगत, रूप और इसमें से निकलने वाली रौशनी से चकाचौंध हो गये। तभी एक आकाशवाणी हुई, 'ऐ बंदो, यह हमारे ही जलाल का हिस्सा है, और तुम इसे हमारा ही नुमाइंदा मानकर इसकी परिक्रमा करना और इसी की तरफ़ सजदा करना।' रकीबन बी ने बड़े उत्साह से पूछा, 'तो हम लोग इस अजूबे पत्थर को कब देख पायेंगे, कब हमारी आंखें अल्लाह के नूर का जलवा देख पायेंगी?' मौजूदा भीड़ में एक उत्साह की लहर दौड़ गयी, 'हां कब, आख़िर कब?'

मौलवी साहब ने नाराज़ होकर कहा, 'उसे देखा नहीं जा सकता। हिफ़ाज़त के लिए उसके चारों तरफ़ बारह फ़ुट ऊंची दीवार है और ऊपर सपाट छत। जो घनाकार काबाशरीफ़ की तस्वीरों में नज़र आता है उसके अंदर यह पत्थर महफ़ूज़ है। उमरा इसी के चारों तरफ़ करना पड़ता है और हर चक्कर के पूरा होने पर उसकी तरफ़ उंगली उठानी पड़ती है।'

रकीबन बी का सारा धार्मिक जोश ठंडा हो गया। बिगड़कर बोलीं, 'लो भला, जिसे अल्लाह ने इसी जगह पर फेंका है, उसे यहां से हिला पाने की कौन जुर्रत कर सकता है? और अल्लाह के जलाल के हिस्से को अगर

किसी ने चुरा लेने की कोशिश की तो उसका हाथ न जल जावेगा?' श्रोताओं ने भी रकीबन बी से हां में हां मिलायी और एक दो ने तो इस पूरे इंतज़ाम को सऊदी साज़िश बताया जो चाहते ही नहीं कि उनके अलावा कोई दूसरे मुसलमान पूरी हज कर सकें और उसका पुण्य कमायें।

इन सब लोगों को डांट कर चुप कराया गया और मौलवी साहब को आगे की दास्तान सुनाने का निवेदन किया गया। उनका मूड उखड़ गया था लेकिन फिर भी काबे के इतने बड़े तीर्थ बनने की दास्तान ऐसे मोड़ पर थी कि उसे रोक देना किसी तरह मुनासिब ना था। ख़ैर, इतिहास की कथा आगे बढ़ी और वहां पहुंच गयी जहां हर अरब क़बीले और यहूदी क़बीले ने पैग़ंबर इब्राहीम को हुई भविष्यवाणी को सही मान लिया और इस जगह को एक पवित्र स्थान का दरजा देते हुए यहां आकर पुण्य कमाना अपना मज़हबी फ़र्ज़ स्वीकार कर लिया ।

ज़्यादातर अरब क़बीलों के अपने अपने इष्ट देवता थे। इस पत्थर के चारों तरफ़ इमारत को बनाने में सबने मदद की और अपने देवताओं की प्रतिमाएं यहां रख दीं।

हज़रत मोहम्मद पर अल्लाह का राज़ खुलने के बाद सारे अरब क़बीलों ने इस्लाम धर्म क़ुबूल कर लिया। उसके बाद सिर्फ़ मुसलमान और यहूदी ही यहां आते, तीर्थ पूरा करते और पुण्य कमाते। लेकिन उनकी रस्में और तौर तरीक़ा मुसलमानों से अलग थे, इसलिए पैग़ंबर ने बैठकर यह संधि कर ली कि जब वे आयेंगे तब मुसलमान नहीं आयेंगे और जब मुस्लमान यहां होंगे तो यहूदी दूर रहेंगे ताकि एक दूसरे के धार्मिक रीति रिवाज में कोई ख़लल न पड़े।

रकीबन बी की आंखों में पैग़ंबर की इंसाफ़पसंदी पर फ़क्र के आंसू छलक आये। इसीलिए तो उनके बाद अल्लाह को कोई दूसरे पैग़ंबर को भेजने की ज़रूरत नहीं रही। इंसाफ़ करना, सबको बराबर मानना, ऊंच नीच का भेद मिटा देना तो कोई इस्लाम से सीखे। बड़ी उत्सुकता से बोलीं, 'अच्छा ! तो हम मुसलमान तो यहां बकरीद के महीने में हज करने आते हैं। यहूदी यहां कब आते हैं? '

मौलवी साहब की पहाड़ी नदी सी कल कल करती ज़बान लड़खड़ा गयी। कुछ पल तो वे सन्नाटे में आ गये, फिर ज़रा संभलते हुए बोले, 'यहूदी यहां नहीं आते। पैग़ंबर अले सलाम ने उनका यहां आना बंद कर दिया था!'

'ये ग़ज़ब ख़ुद का क्यों?' रकीबन बी तक़रीबन चीख पड़ीं।

'यहूदियों ने उन्हें पैग़ंबर मानने से इंकार कर दिया'

'ऐ है, तो क्या हुआ? यह तो उन्हीं की जगह है न, और अल्लाह ने काबे का पाक पत्थर भी हज़रत इब्राहीम के लिए भेजा था और उन्हीं के बेटे इस्माइल के प्यास से बिलखने और पाक पैरों के रगड़ने से रेगिस्तान का सीना चीरकर आबे ज़म ज़म का चश्मा बह निकला था जो आज तक बह रहा है। फिर उन्हें कैसे बेदख़ल कर दिया पैग़ंबर ने? ये तो बड़ी नाइंसाफ़ी की बात कर दी उन्होंने!'

रक़ीबन बी का इतना कहना था कि कोहराम मच गया। भला इतने अकीदतमंद मुसलमानों की मौजूदगी में कोई पैग़ंबर को अन्यायी कहने की जुर्रत करे! मौलवी साहब तो बस फट ही पड़े और अपना बोरिया बिस्तर लपेटकर वापस हो जाने पर आमादा हो गये। इस तरह के दहरिये (नास्तिक) काफ़िर के साथ वे हज करके क्यों ख़ुद को गुनाहगार करते?

हशमत आरा बेगम के कहने पर कि वे इतना बड़ा गुनाह कैसे कर सकते हैं कि मक्का के दरवाज़े से लौट जायें, वे रुआंसे होकर बोले कि 'गुनाहगार तो रकीबन बी हुई और वह तो क़यामत के दिन उन्ही का दामन पकड़ेंगे, जिन्होंने ऐसे हालात पैदा कर दिये कि एक नेक, पाबंद मुस्लमान हज करने से महरूम रह गया। उसके बाद रकीबन बी ने तौबा कर ली, हशमत आरा बेगम की ज़रूरतों के अलावा वह मुंह नहीं खोलेंगी। किसी तरह मौलवी साहब

वहीं बने रहने पर राज़ी हुए।

रकीबन बी अपने वादे की ऐसी पक्की निकलीं कि अपने होंट सी लिये। जो कुछ मौलवी साहब कहते उसे ख़ामोशी से निभातीं और एक कोने में सिमट रहतीं। हां, रात के वक़्त हशमत आरा बेगम उन्हें अक्सर, करवटे बदलते, इधर उधर टहलते, बड़बड़ाते और ठंडी आहें भरते सुनतीं ।

हज के सारे अनुष्ठान पूरे हो गये थे, बस आख़िरी शैतान को पत्थर मारना यानी संगसार करना रह गया था। मक्का के बाहर, तीन बड़े बड़े खंभे हैं जिन्हें हज करने वाले, शैतान मानकर पत्थर मारते हैं। हर दूसरे तीसरे साल पथराव करने के जोश में यहां भगदड़ मच जाती और कई लोग ज़ख़्मी होते, कुछ कुचल कर मारे भी जाते। ऐसा इस वजह से होता क्योंकि लोग खंभों के दोनों तरफ़ खड़े होकर पत्थर फेंकते। 'कम्बख़्तों के सर पर पत्थर पड़े थे क्या?' रकीबन बी ने दिल में सोचा। 'भला दोनों तरफ़ से पथराव होगा तो किसी न किसी का तो निशाना चूकेगा ही और सर फुटव्वल होगा ही।' ख़ैर, अब तो तीनों स्तंभों के बीच में दीवार खींच दी गयी है। पुलिस का सख़्त पहरा भी रहता है, गिनकर लोग पथराव करने के लिए भेजे जाते हैं और उनके लौट आने के बाद ही दूसरे भेजे जाते हैं। हर किसी के हाथ में पत्थर भी सात से ज़्यादा नहीं होने चाहिए। ये पत्थर मीणा के दक्षिण पूरब में मुज़्दालिफ़ा मैदान से जमा करने होते हैं।

रकीबन बी के दिल में मौलवी साहब की सुनायी कहानी गश्त कर रही थी। कैसे हज़रत इब्राहिम को रास्ता दिखाते हुए फ़रिश्ते जिब्रील ने तीन बार पत्थरों के ढेर की तरफ़ इशारा करके कहा, 'इसे मारो, ये शैतान है !' उसी की याद में ये खंभे हैं जिन्हें मारना हज का हिस्सा है।

रकीबन बी ने तड़के सवेरे जाकर अपने और बिटिया के लिए पत्थर जमा कर लिये थे। पथराव करने वाली क़तार में वे लग भी गयी थीं। उनके चारों तरफ़ लोग जोश में आकर शैतान को संगसार कर रहे थे और गालियां दे रहे थे। लेकिन रकीबन बी चेहरे से परेशान, दिल में सोच रही थीं, ' ऐ बेचारा दुखिया, पहले तो अल्लाह के सबसे अज़ीज़ पद से गिराया गया, फिर जन्नत से निकाला गया। उसके बाद आदम और हव्वा से दुश्मनी न करता तो क्या उन्हें गोद खिलाता? ख़ुद लालच में आकर आदम और हव्वा ने सेब खाया और इलज़ाम शैतान के सर धर दिया। अब बेचारे लावारिस के पास ज़मीन में इधर उधर डोलने के अलावा चारा ही क्या है? हर जगह से बेचारा ठुकराया जाये, न कोई ठौर न ठिकाना। ऐसे दर दर भटकने को और क्या पत्थर मारकर फटकारना? मैं ख़ुद गुनहगार, क्या इस दुखिया पर पथराव करूं? रकीबन बी ने एक एक करके सातों पत्थर ज़मीन पर गिरा दिये और आगे बढ़ गयीं।

कहते हैं क़यामत के रोज़ जब सबकी नेकियों का हिसाब होगा और जन्नत और जहन्नुम भेजे जाने का फ़ैसला किया जायेगा, तब अगर किसी की, बस एक नेकी कम पड़ रही होगी और वह सबसे भीख मांगता फिरेगा कि अपनी एक नेकी मुझे दे दो ताकि मैं जन्नत में जा सकूं, और कोई ऐसा होगा जिसके पास सारी ज़िंदगी की बस एक नेकी ही होगी, और यह शख़्स अपनी एक नेकी क़ुरबान कर देगा तो अल्लाह उसकी फ़िराक़दिली से ख़ुश होकर उसे जन्नत में जगह देगा।

क्या अल्लाह शैतान पर किये इस एहसान को नेकी मानेगा? और गुनहगार रकीबन बी के लिए जन्नत के दरवाज़े खोलेगा?

मो. 9811772361

दरकते पहाड़ों की अकथनीय व्यथा

विजय विशाल

निस्संदेह हिमालय इस देश की सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संपत्ति है। इसके विशाल पहाड़ विदेशी आक्रमणकारियों से न केवल हमारी रक्षा करते रहे हैं अपितु ये हमारे देश की महान जीवनदायिनी नदियों के स्रोत भी हैं। जैव विविधता का समृद्ध भंडार होने के साथ-साथ सदियों से ये पहाड़ आध्यात्मिक व पवित्र धर्मस्थलों के रूप में देश की संस्कृति का हिस्सा हैं। पारिस्थितिकी, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामरिक व रणनीतिक रूप से हिमालय का स्थान भारत के भविष्य के लिए महत्वपूर्ण है।

इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी आज हिमालय का यह क्षेत्र विकास के बहाने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के नाम पर खनन-माफ़िया व भू-माफ़िया के निशाने पर है। राज्य के रूप में उत्तराखंड हो या हिमाचल, परिणीति दोनों की एक-सी है। अभी 6 फ़रवरी को जिस समय उत्तराखंड में ग्लेशियर गिरने से भारी तबाही की ख़बर आ रही थी, उधर हिमाचल में निर्माणाधीन चंडीगढ़-मनाली फ़ोरलेन सड़क पर पहाड़ी से सरक कर भारी भरकम पत्थर कार के ऊपर गिरने से किसी की मृत्यु का ख़बर आ गयी। हालांकि दोनों दुर्घटनाएं अलग-अलग राज्यों में घटीं, मगर कारण एक ही रहा- पर्यावरणीय क्षति। विकास के नाम पर चलने वाली इन परियोजनाओं ने अब तक न जाने कितनी ज़िंदगियों को तबाह कर दिया है और आने वाले समय में यह गति ऐसी ही बनी रहेगी अगर हम अभी भी सचेत न हुए।

अभी तक सामने आये विवरणों से पता चलता है कि उत्तराखंड के चमोली हादसे में जो दो बिजली परियोजनाएं प्रभावित हुई हैं, वे उन 13 परियोजनाओं में से थीं, जिन पर पर्यावरणीय कारणों से रोक लगनी चाहिए थी। दरअसल, 2013 के केदारनाथ आपदा के बाद सुप्रीम कोर्ट ने उत्तराखंड में नयी बिजली परियोजनाओं पर रोक लगाने का आदेश देते हुए राज्य में चल रही व मंज़ूरीशुदा परियोजनाओं की विस्तृत रिपोर्ट मांगी थी। परंतु सात साल बीत जाने के बावजूद भी केंद्रीय जल संसाधन, पर्यावरण तथा ऊर्जा मंत्रालयों ने इस बारे में शीर्ष अदालत के सामने अभी तक अपना पक्ष ही नहीं रखा है। पर्यावरण के मुद्दे पर ऐसा रवैया बेहद दुर्भाग्यपूर्ण है। सीईईडब्ल्यू (काउंसिल ऑफ़ एनर्जी, इन्वायरर्नमेंट एंड वाटर) की रिपोर्ट बताती है कि वर्ष 1970 के बाद उत्तराखंड में बाढ़, भूस्खलन, बादल फटने और ग्लेशियर टूटने के मामले चार गुणा बढ़े हैं। पिछले बीस साल में पचास हज़ार हैक्टेयर से अधिक हरित क्षेत्र जलवायु परिवर्तन से बर्बाद हुआ है और 85 फ़ीसदी से अधिक ज़िलों पर बाढ़ का ख़तरा है। पर्यावरण विशेषज्ञ उत्तराखंड में बिजली परियोजनाओं के ख़िलाफ़ सजग करते आये हैं, लेकिन विकास के नाम पर इनकी अनदेखी कर दी जाती है। लाज़मी तो यही है कि पर्यावरण के लिए ख़तरनाक साबित होती परियोजनाओं पर रोक लगायी जाये। पर जब केदारनाथ त्रासदी के बाद परियोजनाएं नहीं रुकीं, तो चमोली में हुई त्रासदी के बाद इन पर रोक लगाने की गारंटी कैसे मिलेगी।

इसी संदर्भ में उत्तराखंड में बारह हज़ार करोड़ रुपये की अनुमानित लागत से तैयार होने वाली 900 किलोमीटर लंबी 'हर मौसम में खुली सड़क' (ऑल व्हैदर रोड) परियोजना से होने वाली पर्यावरणीय क्षति को भी समझना होगा। लोगों द्वारा इस परियोजना के विरोध के बाद सुप्रीम कोर्ट को विशेषज्ञों की एक समिति का गठन

करना पड़ा जिसने कुछ महीने पहले इस परियोजना के कारण अब तक हो चुके नुक़सान को लेकर आठ सौ पेज की रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस रिपोर्ट को पढ़ना रोंगटे खड़े कर देने वाले अनुभव से गुज़रना है।

इसी तरह कुछ दिन पूर्व जब उच्चतम न्यायलय ने अपने एक निर्णय में हिमाचल प्रदेश में विकास योजनाओं के लिए कटने वाले पेड़ों के कटान पर प्रतिबंध जारी रखने का निर्णय दिया तो इसकी मिलीजुली प्रतिक्रिया देखने को मिली। पर्यावरण संरक्षण के लिए काम करने वाले या पर्यावरणीय चिंताओं से सरोकार रखने वाले प्रसन्न नज़र आये तो विकास कार्य में लगे छोटे-बड़े ठेकेदारनुमा प्राणी आहत थे, हालांकि राज्य सरकार के आग्रह पर उच्चतम न्यायालय अपने इस फ़ैसले की पुनः समीक्षा के लिए तैयार हो गया था और मैरिट के आधार पर परियोजनाओं की समीक्षा करके कुछ दिशानिर्देश के साथ विकास कार्य को जारी रखने की मंज़ूरी भी दे दी है।

दरअसल, आधुनिक विकास की अवधारणा और पर्यावरण संरक्षण में टकराव का रिश्ता है या यों कहें, दोनों में छत्तीस का आंकड़ा है। विकास की नयी ऊंचाइयों को छूने के लिए और स्वस्थ जीवन के लिए समाज को दोनों की ही ज़रूरत रहती आयी है। नयी परियोजनाएं जहां समाज को आगे ले जाने में अपनी भूमिका निभाती हैं, वहीं रोज़गार के नए अवसर भी पैदा करती हैं, मगर इन परियोजनाओं से पहाड़ों, जंगलों और नदियों को जो नुक़सान होता है वह मनुष्य के अस्तित्व को ही चुनौती देने लगता है। आज इस क्षेत्र के सामने ऐसी ही परिस्थितियां मुंह बाये आ खड़ी हैं।

कहावतों या किंवदंतियों के बारे में कहा जाता है कि ये समूचे समाज के साझे अनुभवों की सटीक अभिव्यक्ति होती हैं। लगातार भूकंप की चपेट में रहने वाले जापान की एक कहावत है- 'आपदा तब आती है जब आप उसे भूल जाते हैं।' इस कहावत के निहितार्थ को हमें यह समझना होगा कि हम जिस पारिस्थितिकी या भूगोल में रहते हैं, उसके ख़तरों से हमेशा भिज्ञ रहें और उसके अनुकूल ही स्वयं को ढालने की कोशिश करें। शायद जापान अपनी इस कहावत के मर्म को समझता है, इसलिए निरंतर बड़े भूकंप भी वहां भयानक आपदा नहीं बन पाते। लेकिन हमारी स्थिति जापान से उल्टी है। हम स्वयं आपदाओं को निमंत्रण देते हैं। देश में इसका एक बड़ा उदाहरण जून 2013 में उत्तराखंड त्रासदी के रूप में देखने को मिला था और वर्ष 2018 में केरल की बाढ़ में देखा गया था। हिमाचल जैसे पहाड़ी राज्यों में तो जब तब छोटी-छोटी घटनाओं के रूप में देखने को मिलता रहता है।

हालांकि मैं न कोई पर्यावरणविद् हूं और न ही विकास परियोजनाओं की तकनीकी जानकारियां रखने वाला व्यक्ति हूं। मगर एक सजग नागरिक की हैसियत से अपने चारों तरफ़ घटने वाली घटनाओं पर सचेत नज़र रखता हूं। इस समय इस क्षेत्र में विकास के नाम पर जो सबसे बड़ी परियोजनाएं चल रही हैं या चर्चा में हैं वह है नये नैशनल हाईवे का निर्माण व पुराने नैशनल हाईवे को चौड़ा करके फ़ोरलेन मार्ग में तबदील करना। इसमें दो राय नहीं कि इस पहाड़ी राज्य में बहने वाले नदी-नाले यहां की आर्थिक संपन्नता के संसाधन व स्रोत हैं, उसी तरह इन पहाड़ों में निकलने वाली सड़कें यहां के लोगों की जीवन रेखाएं हैं। मगर जिस अबाध गति से अब यहां यह प्रक्रिया चल रही है अर्थात् पहले से निर्मित नैशनल हाईवे को फ़ोरलेन में बदलने की तथा अनेक नये नैशनल हाईवे के निर्माण की घोषणाएं हो रही हैं, उससे कई सवाल उपजते हैं। जिस गति से इन सड़कों के निर्माण के लिए भूमि अधिग्रहण हो रहा है उससे न केवल कृषि भूमि कम हो रही है अपितु अनेक परिवार रोज़गार विहीन हो रहे हैं। भूमि अधिग्रहण से मिलने वाले पैसे के निवेश के लिए उचित संसाधनों के अभाव में वह पैसा उच्छृंखलता को बढ़ाने में सहायक हो रहा है। लोग नशे की गिरफ़्त में आते जा रहे हैं। ख़ासकर नयी पीढ़ी में नये नशों का प्रचलन बढ़ रहा है। नये मॉडल की महंगी गाड़ियां बिना ज़रूरत खरीदी जा रही हैं जिससे सड़कों पर परिवहन का दबाव निरंतर बढ़ता जा रहा है। राज्य सरकारों का पूरा ध्यान इन नवनिर्मित नैशनल हाईवे व फ़ोरलेन की तरफ़ होने से दूर देहातों की सड़कों की बदहाली की तरफ़ कोई नहीं देख रहा। उनकी हालत निरंतर ख़स्ता होती जा रही है। पहाड़ों की देहाती सड़कें सुरक्षा के कोई

मानक पूरे नहीं करतीं जिससे सड़क दुर्घटनाआं में इज़ाफ़ा हो रहा है जिसमें बेशक़ीमती युवा ज़िंदगियां समाप्त हो रही हैं। इससे मुझे लगता है कि नये हाईवे बनाने के बजाय सरकार पहले से बनी इन पुरानी सड़कों की बेहतरी के लिए काम करे, तो अच्छा हो। इन्हें सुरक्षा के मानकों के तहत लाया जाये। सभी सड़कों के किनारे पैरापिट हों या क्रैश बैरियर। यह तर्क अपनी जगह सही हो सकता है कि नैशनल हाईवे व फ़ोरलेन पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, इनके निर्माण से पर्यटन व्यवसाय बढ़ेगा, मगर इस क्षेत्र के लोगों की ज़िंदगी को असुरक्षित रखकर व्यवसाय करना भी समझदारी नहीं कही जा सकती। जहां तक मैं हिमाचल प्रदेश की भौगौलिक परिस्थितियों को समझता हूं, मुझे लगता है कि इस पहाड़ी राज्य को उचित परिवहन नीति की भी आवश्यकता है जो फ़िलहाल मुझे नज़र नहीं आती। संकरे रास्तों पर भारी भरकम गाड़ियों को चलने देना स्वतः ही दुर्घटना को आमंत्रण देना है।

कुछ दिन पूर्व थोड़े-थोड़े अंतराल पर कुल्लू जाना हुआ। पंडोह के आगे जिस निर्ममता से पहाड़ियों को काटने और उनके भीतर अनेक सुरंगें निकालने का कार्य चल रहा है उसे देखते हुए लगता है कि हम उत्तराखंड की त्रासदी से कोई सबक़ नहीं लेना चाहते। जून 2013 में आयी उस आपदा में सरकारी आंकड़ों के अनुसार चार हज़ार से ज़्यादा और ग़ैरसरकारी स्वतंत्र संस्थाओं के अनुसार दस हज़ार से ज़्यादा जानें गयी थीं। इस त्रासदी के बाद हुए अनेक अध्ययनों में यह बात सामने आयी थी कि बिजली परियोजनाओं के नाम पर वहां पहाड़ों के भीतर सुरंगे खोदकर उन्हें पूर्णतः खोखला किया जा चुका था जिससे यह त्रासदी हुई थी।

दूसरा, मुझे लगता है कि इन सुरंगों को निकालने व पहाड़ों को काट कर सड़कें बनाने में लगे अधिकतर अकुशल मज़दूर होते हैं। विज्ञान सम्मत खनन से इनका दूर-दूर तक का कोई वास्ता नहीं होता। यहां भी यह देखने-सुनने को मिला कि बड़ी-बड़ी कंपनियों ने सुरंगों की खुदाई व पहाड़ों की कटाई का ठेका तो सरकार से ले रखा है, मगर वास्तव में ये कंपनियां स्वयं इस कार्य को नहीं कर रही हैं। इसके बजाय इन बड़ी कंपनियों ने यह कार्य स्थानीय स्तर पर 'सबलैट' कर रखे हैं जिससे स्थानीय जे सी बी मालिक ठेकेदार बने हुए हैं और जे सी बी चालक इंजीनियर की भूमिका निभा रहे हैं। पूरे परिदृश्य को देखकर तो कई बार ऐसा लगता है जैसे देश के दूसरे राज्यों की तरह इन पहाड़ी क्षेत्रों में भी खनन माफ़िया व बड़े ठेकेदार विकास परियोजनाओं पर कब्ज़ा जमाये बैठे हैं। वे ही अपने मन माफ़िक विकास योजनाएं सरकार से बनवा रहे हैं, उन्हें पास करवा रहे हैं और फिर कार्यान्वित भी कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि देश के जल, जंगल व ज़मीन पर इन ठेकेदारों का कब्ज़ा हो गया है और तमाम सरकारें इन नीतियों को विकास के नाम पर प्रचारित करके वोट बटोरने में लगी हैं। उनकी चिंता दीर्घकालीन नुक़सानों को लेकर नहीं है।

हमें समझना होगा कि पारिस्थितिकी के लिहाज से ये पहाड़ अत्यंत नाज़ुक हैं और ख़ासतौर से इन्हें भूकंप तथा बाढ़ का ख़तरा है। इसके बावजूद एक के बाद एक आने वाली सरकारों ने हिमालय तथा उसके भीतर रहने वाले लोगों पर चार तरह से हमले किये हैं। वाणिज्यिक वानिकी, ओपन कास्ट माइनिंग, बड़ी पन-बिजली परियोजनाओं को बढ़ावा तथा अनियंत्रित पर्यटन ने मिलकर भारी पैमाने पर ज़हरीले कचरे के संचय, वायु प्रदूषण में बढ़ोतरी, वनों तथा जैवविविधता में कमी, जल स्रातों का क्षरण किया है और भूस्खलन तथा बाढ़ में वृद्धि की है। लंबे समय से हिमालय यह सब सहन कर रहा है, मगर आज सवाल यही है कि आख़िर कब तक? सहने की कोई तो सीमा होती ही होगी। इन्हीं चिंताओं को व्यक्त करती पर्यावरण विशेषज्ञों की रिपोर्ट कहती है, 'आज दुनिया भर में स्पष्ट हो गया है कि पारिस्थितिकी की ईमानदार और बिना शर्त की जाने वाली चिंता से रहित कोई भी विकास अदूरदर्शी साबित होगा और अनिवार्य रूप से दीर्घकाल में तबाही और आपदा लायेगा।'

मो. 9418123571

रिपोर्ट

किसान आंदोलन के पक्ष में लेखक-कलाकार

यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊंचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल!

- निराला, 'बादल-राग-6'

जिन्हें वेदना का कारण ज्ञात हो वे बचाव की कोशिश करेंगे। जो उस वेदना से संवेदित हैं वे बचाव में साथ देंगे। संघर्ष के सहभागी होंगे। आंदोलन में शरीक रहेंगे। पंजाब से शुरू हुआ किसान आंदोलन आज अखिल भारतीय शक्ल अख़्तियार कर चुका है। दिल्ली की तमाम सरहदों पर बेख़ौफ़ किसान धरना दिये बैठे हैं। उनके वहां होने से सरकार का डर दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इस आंदोलन से प्रतिबद्ध लेखकों-कलाकारों का जुड़ाव होना स्वाभाविक है। दिल्ली के प्रमुख लेखक संगठनों ने साल 2015 में संयुक्त मोर्चा बनाया था। यह मोर्चा धीरे-धीरे बड़ा होता गया। किसान आंदोलन में अपनी भागीदारी को लेकर इस मोर्चे के संस्कृतिकर्मी-रचनाकार आरंभ से ही सक्रिय-समुत्सुक रहे। इसी का नतीजा था कि विचार-विमर्श के बाद 6 दिसंबर को संगठनों की तरफ़ से आंदोलन के समर्थन में साझा बयान जारी किया गया। योजनानुसार 7 दिसंबर को संस्कृतिकर्मियों (लेखकों-कलाकारों) का एक प्रतिनिधि मंडल दिल्ली के सिंघु बॉर्डर पर गया। रचनाकार अपने-अपने ढंग से दिल्ली से बॉर्डर पर जाते रहे और किसान आंदोलन से जुड़ते रहे। 21 दिसंबर को संगठनों की एक ऑनलाइन बैठक हुई। बैठक में लिए निर्णय के अनुसार 29 दिसंबर को 'फ़ेसबुक लाइव' में देश के प्रमुख रचनाकारों, बुद्धिजीवियों का किसान आंदोलन के समर्थन में बयान आयोजित कराया गया। वक्तव्य देने वालों में के. सच्चिदानंदन (मलयालम कवि, अनुवादक), गीता हरिहरन (अंग्रेज़ी कवि), रवि सिन्हा (भौतिकीविद, सिद्धांतकार), मनोरंजन ब्यापारी (कथाकार, अध्यक्ष, बांग्ला दलित साहित्य अकादमी), नसीरुद्दीन शाह (अभिनेता, रंगकर्मी), ममता कालिया (कथाकार), मृदुला गर्ग (कथाकार), रत्ना पाठक शाह (रंगकर्मी), प्रो. चौथीराम यादव (आलोचक), प्रियंवद (विचारक-गद्यकार), प्रो. शारिब रुदौलवी (उर्दू लेखक), मणिमाला (संपादक-एक्टिविस्ट), रणेंद्र (आदिवासी जीवन के कथाकार), जंसिता केरकेट्टा (आदिवासी विचारक), वंदना टेटे (आदिवासी लेखिका, एक्टिविस्ट) थे। इस कार्यक्रम के अंत में साझा बयान पढ़ा गया। बयान का अविकल पाठ यों है :

तीन जनद्रोही कृषि-क़ानूनों के ख़िलाफ़ किसानों के ऐतिहासिक आंदोलन का साथ दें!
केंद्र सरकार के कार्पोरेटपरस्त एजेंडा के विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद करें!
देश भर के लेखक, कलाकार, शिक्षक और छात्र दो जनवरी को सिंघु बॉर्डर चलें!

भारत का किसान – जिसके संघर्षों और क़ुर्बानियों का एक लंबा इतिहास रहा है – आज एक ऐतिहासिक मुक़ाम पर खड़ा है।

हज़ारों-लाखों की तादाद में उसके नुमाइंदे राजधानी दिल्ली की विभिन्न सरहदों पर धरना दिये हुए हैं और उन तीन जनद्रोही क़ानूनों की वापसी की मांग कर रहे हैं जिनके ज़रिये इस हुकूमत ने एक तरह से उनकी तबाही और बरबादी के वॉरंट पर दस्तख़त किये हैं।

सरकार भले ही यह दावा करे कि ये तीनों क़ानून किसानों की भलाई के लिए हैं, जिन्हें महामारी के दिनों में पहले अध्यादेश के ज़रिये लागू किया गया था और फिर तमाम जनतांत्रिक परंपराओं को ताक़ पर रखते हुए संसद में पास किया गया था, लेकिन यह बात बहुत साफ़ हो चुकी है कि इनके ज़रिये राज्य द्वारा अनाज की ख़रीद की प्रणाली को समाप्त करने और इस तरह बड़े कॉरपोरेट घरानों के लिए ठेका आधारित खेती करने तथा आवश्यक खाद्य सामग्री की बड़ी मात्रा में जमाख़ोरी करने की राह हमवार की जा रही है।

लोगों के सामने यह भी साफ़ है कि यह महज़ किसानों का सवाल नहीं बल्कि मेहनतकश अवाम के लिए अनाज की असुरक्षा का सवाल भी है। अकारण नहीं कि किसानों के इस अभूतपूर्व आंदोलन के साथ खेत -मज़दूरों, औद्योगिक मज़दूरों के संगठनों तथा नागरिक समाज के तमाम लोगों और संगठनों ने अपनी एकजुटता प्रदर्शित की है।

जनतंत्र और संवाद हमेशा साथ चलते हैं। लेकिन आज अधिक से अधिक लोग यह महसूस कर रहे हैं कि जनतंत्र के नाम पर अधिनायकवाद की स्थापना का खुला खेल चल रहा है।

आज की तारीख़ में सरकार किसान संगठनों के साथ वार्ता करने के लिए मजबूर हुई है, मगर इसे असंभव करने की हर मुमकिन कोशिश सरकार की तरफ़ से अब तक की जाती रही है। उन पर लाठियां बरसायी गयीं, उनके रास्ते में तमाम बाधाएं खड़ी की गयीं, यहां तक कि सड़कें भी काटी गयीं। यह किसानों का अपना साहस और अपनी जिजीविषा ही थी कि उन्होंने इन कोशिशों को नाकाम किया और अपने शांतिपूर्ण संघर्ष के काफ़िलों को लेकर राजधानी की सरहदों तक पहुंच गये।

किसानों के इस आंदोलन के प्रति मुख्यधारा के मीडिया का रवैया कम विवादास्पद नहीं रहा। न केवल उसने आंदोलन के वाजिब मुद्दों को लेकर चुप्पी साधे रखी बल्कि सरकार तथा उसकी सहमना दक्षिणपंथी ताक़तों द्वारा आंदोलन को बदनाम करने की तमाम कोशिशों का भी जमकर साथ दिया। आंदोलन को विरोधी राजनीतिक पार्टी द्वारा प्रायोजित बताया गया, किसानों को खालिस्तान समर्थक तक बताया गया।

यह सकारात्मक है कि इन तमाम बाधाओं के बावजूद किसान शांतिपूर्ण संघर्ष की अपनी राह पर डटे हैं।

उनका आंदोलन इस दौर में जनतंत्र की रक्षा के लिए चलने वाला सबसे ज़रूरी और जुझारू आंदोलन बन चुका है। इस देश में जनतंत्र के सुनहरे भविष्य के लिए इस जन-आंदोलन की जीत ज़रूरी है। ऐसे में देश के बौद्धिक वर्ग का ख़ामोश तमाशबीन बने रहना जनविरोधी राजनीति को मज़बूती देता है। इसलिए इस मोड़ पर हमें स्पष्ट रूप से अपना पक्ष चुनना होगा और आंदोलन की जीत के लिए हर मुमकिन शांतिपूर्ण कोशिश करनी होगी।

हम देश की तमाम भाषाओं और सांस्कृतिक परंपराओं से जुड़े हुए लेखक और कलाकार देश के समस्त बौद्धिक वर्ग से, लेखकों-कलाकारों-छात्रों और शिक्षकों से, किसानों के साथ अपनी एकजुटता दिखाने दो

जनवरी को अपराह्न तीन बजे सिंघु बॉर्डर पहुंचने का आह्वान करते हैं।

हम सरकार से यह मांग करते हैं कि वह अपना अड़ियल रवैया छोड़े और तीन जनद्रोही कृषि-क़ानूनों को रद्द करने का ऐलान करे।

हम आंदोलनरत किसानों से भी अपील करते हैं कि वे शांति के अपने रास्ते पर अडिग रहें।

जीत न्याय की होगी ! जीत सत्य की होगी !! जीत हमारी होगी !!

न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव, दलित लेखक संघ, अखिल भारतीय दलित लेखिका मंच, प्रगतिशील लेखक संघ, जन संस्कृति मंच, इप्टा, संगवारी, प्रतिरोध का सिनेमा, जनवादी लेखक संघ, जन नाट्य मंच

बैठक में लिये गये निर्णय के अनुरूप 2 जनवरी को शताधिक रचनाकार-कलाकार-विद्यार्थी-अध्यापक सिंघु बॉर्डर पहुंचे। सुबह के वक़्त तेज़ बारिश हो रही थी। बारह किलोमीटर में फैले इस जमावड़े में हमारे जत्थे तितर-बितर थे। हम 'जन संघर्ष मंच हरियाणा' के टेंट में इकट्ठे हुए। जन नाट्य मंच के साथियों ने आंदोलन के गीत गाये। अनेक कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं। रचनाकारों, कलाकारों ने संक्षिप्त वक्तव्य दिये। बारिश से हर जगह कीचड़ था। कहीं -कहीं पानी इकठ्ठा हो गया था। स्वयंसेवक निरंतर सेवाकार्य में जुटे थे। किसानों का हौसला बुलंदी पर दिखा। अलग-अलग मंचों पर हो रहे भाषणों को सुनते हुए, लोगों से बात करते हुए जो चीज़ समझ में आयी वह यह थी कि किसानों ने अपने फ़ोकस में परिवर्तन किया है। वे संकट के मूल स्रोत अडाणी-अंबानी की कारस्तानियों को समझ गये हैं। वे जान गये हैं कि देश के प्रधानमंत्री इनके 'प्रधान-सेवक' हैं। इस प्रधान-सेवक की हद दर्जे की संवेदनहीनता पर आश्चर्य नहीं होता। जो एक अभिनेत्री या खिलाड़ी को मामूली चोट लगने पर ट्वीट करता रहा हो वह इस आंदोलन में दिवंगत हुए इतने सारे किसानों के परिवारों के प्रति संवेदना के दो शब्द भी मुंह से या 'चोंच' (ट्विटर) से नहीं निकाल सकता। वह इन मौतों पर ख़ामोश है। यह ख़ामोशी पूंजी के प्रति समर्पित एक सेवक का 'धर्म' है। सरकार ने अब तक जो भी निर्णय लिये हैं वे देश को क्रमिक बर्बादी की तरफ़ ठेलने वाले हैं। नोटबंदी, जीएसटी, सीएए, तालाबंदी और अब कृषि-क़ानून। सरकार को यह भय सता रहा है कि अगर कृषिक़ानून रद्द करने पड़े तो कल ईवीएम हटाने का जो आंदोलन चलने वाला है वह भी सफल होगा। अडाणी-अंबानी-रामदेव के उत्पादों का बहिष्कार इस कॉरपोरेट-परस्त सरकार की बेचैनी बढ़ा रहा है। सरकार के इस्तीफ़े की देशव्यापी मांग अभी सतह पर नहीं आयी है। यह ज़रूर हुआ है कि देश के इस अभूतपूर्व ऐतिहासिक किसान आंदोलन ने आर एस एस-भाजपा की धर्म-जाति आदि की विभाजनकारी और सांप्रदायिक चालों पर पलीता फेरने और जनवाद के प्रति जागरूकता पैदा करने का काम किया है।

4.1.2021 को लिखी गयी रिपोर्ट

प्रस्तुति : बजरंग बिहारी तिवारी
मो. 9868261895